परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

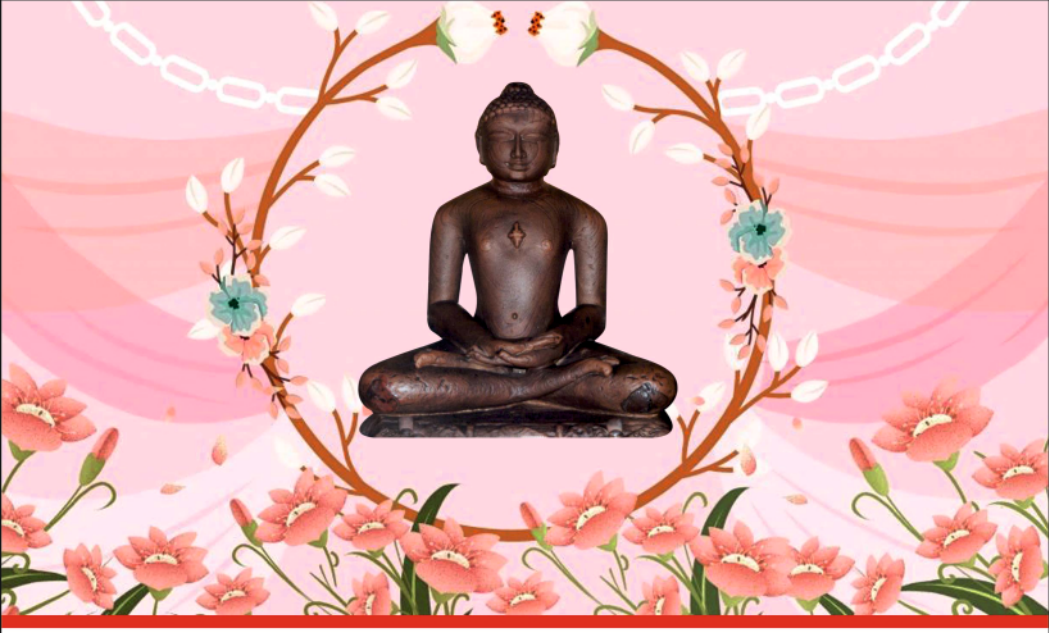

प्राचीन एवं मध्यकालीन मालवा में जैनधर्म : एक अध्ययन

लेखक
डॉ. तेजसिंह गौड़

प्रकाशक
श्री राजेन्द्रसूरि जैनशोध संस्थान
उज्जैन (मध्यप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

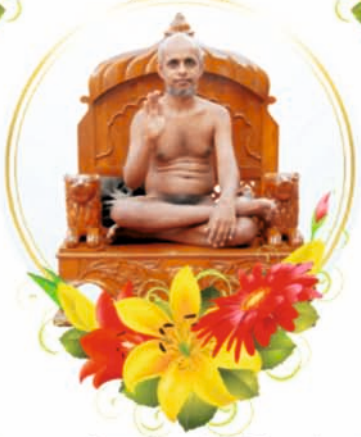

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

प्राचीन एवं मध्यकालीन मालवा में जैनधर्म : एक अध्ययन

लेखक
डॉ. तेजसिंह गौड़

प्राचीन एवं मध्यकालीन मालवा में जैनधर्म : एक अध्ययन

(विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन की पी-एच.डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध)

लेखक
डॉ. तेजसिंह गौड़

प्रकाशक
श्री राजेन्द्रसूरि जैन शोध संस्थान
उज्जैन (म.प्र.)

पुस्तक	:	प्राचीन एवं मध्यकालीन मालवा में जैनधर्म : एक अध्ययन
मार्गदर्शक	:	डॉ.भगवतशरण उपाध्याय आचार्य एवं अध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)
लेखक	:	डॉ.तेजसिंह गौड़
अवतरण	:	देवोत्थयनी एकादशी, सं.2067 17 नवम्बर, 2010
प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान	:	श्री राजेन्द्रसूरि जैन शोध संस्थान 87/2, विक्रम मार्ग, टॉवर चौक, एस.एम.कॉम्प्लेक्स, फ्रीगंज, उज्जैन (म.प्र.)
मूल्य	:	एक सौ रुपये
सर्वाधिकार	:	प्रकाशकाधीन
अक्षर संयोजन	:	फ्रेण्ड्स कम्प्यूटर्स सुराना कॉम्प्लेक्स, नई सड़क, उज्जैन (म.प्र.)
मुद्रक	:	रॉयल ऑफसेट कलालसेरी, उज्जैन (म.प्र.)

समर्पण

जिन्होंने
मेरी
डूबती नैय्या को सहारा दिया
और
मेरे अध्ययन मार्ग
को प्रशस्त किया,
उन
भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के
प्रकाण्ड विद्वान
परम श्रद्धेय गुरुवर
श्रद्धेय डॉ. भगवतशरणजी उपाध्याय
के
परम पावन
श्री चरणों में
सविनय, सश्रद्धा, सादर
समर्पित... !

—तेजसिंह गौड़

मेरी कामना

मालव धरती हिन्दुस्तान का मध्य भाग उर्वरा एवं बहुरत्ना वसुंधरा रही है। अनेक धर्म स्थान एवं तीर्थ स्थानों से मंडित रही है। राजा महाराजाओं से सुशोभित रही है। जहाँ के लिये लोकोक्ति थी "पग-पग रोटी डग-डग नीर, मालव धरती, सुखद समीर।।"

प्राक् ऐतिहासिक काल से इसकी संस्कृति एवं प्रवृत्ति मूलक संस्कार अपने आप में गौरवपूर्ण रहे हैं। संस्कृति प्रेमी एवं तद्विषयक ज्ञाता महाराजा भोज एवं अवंति अधिनायक विक्रमादित्य धर्म संस्कृति के पोषक एवं धर्मधुरा के धारक हुए हैं। सिद्धसेन दिवाकर की जन्मदातृ का गौरव इसी भूमि को प्राप्त हुआ है। पेथड़शाह, झांझणशाह, संग्राम सोनी एवं महाकवि धनपाल, कालिदास जैसे इतिहास पुरुषों की प्रदातृ बनने की एवं कीर्तिगाथा को प्रस्तुत इसी भूमि ने किया है। इसका आदि एवं मध्य युग बड़ा ही उत्कर्ष पूर्ण एवं संस्मरणीय रहा है।

प्रस्तुत मालवा के प्राचीन एवं मध्य युग में जैनधर्म नाम का शोध प्रबंध लिखकर डॉ.श्री तेजसिंहजी गौड़ ने बिखरे जैनधर्म के इतिहास को इस शोध प्रबंध में लेकर निश्चय ही साहित्य जगत की बहुमूल्य सेवा की है, जो श्री गौड़ साहब के श्रम एवं इतिहास प्रेम को प्रकट कर रही है। दस अध्याय में इस शोध ग्रंथ को लिखा है, जिसमें प्रत्येक अध्याय में जैनधर्म की ऐतिहासिक निर्माणकला एवं तीर्थों की बातों को समाहित किया है।

इस शोध प्रबंध में मौलिक विषयों को समाविष्ट करते हुए मालवा की ऐतिहासिक स्थिति एवं साहित्यिक स्थिति का दिग्दर्शन किया गया है। अनेकशः प्रशस्तियों एवं पट्टावलियों और तीर्थमालाओं से मालव की महिमा को प्रस्फुटित किया गया है।

दूसरे अध्याय में मालवा के ऐतिहासिक महत्त्व को समझाते हुए उस भूमि पर जैनधर्म के प्रादुर्भाव से लेकर तत्कालीन राजाओं के समय में जैनधर्म की स्थिति को प्रदर्शित करने के साथ निश्चित रूप से तत्समय की वर्तमान स्थिति का निरूपण किया गया है।

तीसरे अध्याय में जैन धर्मानुयायीजनों में भेद, उपभेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसमें अनेक बातों का प्रकटीकरण कर उस समय की स्थिति को

दिखाया गया है, जो पठनीय एवं मननीय है। श्वेताम्बर परम्परा में गच्छ, उपगच्छ एवं मान्यता के साथ दिगम्बरों में विभिन्न गच्छ भेद का सुंदर वर्णन समाविष्ट किया है।

चौथे अध्याय में जैन धर्मानुयायियों की विभिन्न जातियाँ एवं कुल गोत्र का पूरा वर्णन इसमें आलेखित है। अनेक प्रकरण हैं जिनसे कई विषयों का स्पष्टीकरण एवं विवरण प्रस्तुत किया है।

पंचम अध्याय में मालवा में जैनों के अपने स्थापत्यों का निर्माण, प्रारम्भिक काल एवं मध्यकाल में कैसा था वह स्थापत्य उसका भिन्न-भिन्न रूप से गुप्तकालीन राजपूतकालीन का दिग्दर्शन प्रस्तुत है। गुप्त एवं राजपूत कालीन मूर्तियों के निर्माण का भी अच्छा उल्लेख किया गया है।

षष्ट अध्याय में मालवा में जैन तीर्थों की अच्छी खासी जानकारी दी है, जिसमें श्वेताम्बर एवं दिगम्बरों के तीर्थ क्षेत्र अतिशय क्षेत्र एवं प्रभावक तीर्थों का ऐतिहासिक वर्तमान तक वर्णन प्रस्तुत किया है जो दृष्टव्य है।

सप्तम अध्याय में मालवा में विभिन्न जैनाचार्यों/मुनियों ने विपुल मात्रा में साहित्य सृजन किया है। उसी जैन साहित्य का दिग्दर्शन इस अध्याय में किया गया है।

अष्टम अध्याय में भारतवर्ष में जैन शास्त्र भण्डारों का बाहुल्य रहा है। इस अध्याय में मालवा के जैन शास्त्र भण्डार, शास्त्रों का रखरखाव, प्रतिलिपिकरण आदि का विवरण दिया गया है।

नवम अध्याय में जैनाचार्यों का जन्म कहीं होता है और उनकी कर्मस्थली कहीं ओर होती है। मालवा में प्रमुख रूप से विचरण करने वाले जैनाचार्यों का परिचय इस अध्याय में दिया गया है। इसमें अनेक ऐसे आचार्यों का भी परिचय है, जिनका जन्म भी मालवा में ही हुआ।

अपने हाथ में रहे इस प्राचीन एवं मध्यकालीन युग में जैनधर्म शोध ग्रन्थ को मननीय, दर्शनीय, पठनीय सामग्री सह गौरव गाथा का आलेखन हर एक पाठक की अनेकशः जिज्ञासाओं का समाधान करता है। यह शोध प्रबंध ग्रंथ भविष्य में अनेक शोधार्थियों को एक अनुपम देन स्वरूप बनेगा।

मालव में प्राचीन युग का दर्शन कराते मध्य युग की अनेक विभूतियों एवं अनुभूतियों का वर्णन अपने आप में असाधारण है। श्री गौड़ सा. का यह श्रम अनेक अध्येताओंका मार्गदर्शक एवं अतीत की विस्मृत स्मृतियों को उद्घाटित करने वाला होगा। मैं श्री गौड़ सा. का धन्यवाद के साथ अभिनंदन करता हूँ कि आपने यह आलेखन किया। भविष्य में ऐसी कृति प्रदान करने की आपकी भावनाएँ सफल हों, यही कामना।

-आचार्य जयन्तसेनसूरि

विजयवाड़ा (आ.प्र.)

अभिमत

मुझे डॉ.श्री तेजसिंह गौड़ की शोध कृति "प्राचीन एवं मध्यकालीन मालवा में जैनधर्म : एक अध्ययन" की पाण्डुलिपि का अध्ययन करने का सुअवसर मिला। मालवा के जैनधर्म विषयक इतनी बहुविध सामग्री एक स्थान पर देखकर बड़ा संतोष प्राप्त हुआ। विद्वान लेखक ने जैन साहित्य, धर्म एवं दर्शन पर गहरा चिंतन किया है और जैन मत के शीर्ष पुरुषों के मध्य अपनी व्याप्ति दी है। एक लेखक, सम्पादक एवं शोधकर्ता के रूप में वे जैन मत के विभिन्न प्रमुख सम्प्रदायों में ख्यात हैं। इस कारण सहज ही उनका ग्रंथ श्रमसाध्य एवं प्रामाणिक माना जा सकता है। दस अध्यायों में विभक्त ग्रंथ का कलेवर मालवांचल में जैनधर्म की भूमिका के विभिन्न पक्षों एवं पहलुओं का सविस्तार विवेचन करता है। इन अध्यायों में अध्ययन के स्रोत एवं मालवांचल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तो पातनिकी के रूप में दी ही गई है, साथ ही जैनधर्म के भेद-उपभेद, जातियाँ, गोत्र एवं विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं की भी विवेचना की गई है। पुरा-प्रमाणों के आधार पर भी इस अंचल के जैनधर्म की मीमांसा जैन-कला, जैन-मंदिरों एवं जैन-तीर्थों पर केन्द्रित होकर की गई है। ग्रंथ की सबसे बड़ी भूमिका अंचल से संबंधित जैन वाङ्मय, शास्त्र-भण्डार, जैनाचार्य एवं उनके अवदानों की विशद चर्चा की है। वस्तुतः एक ग्रंथ में इतनी सामग्री, जिसमें अधिकांश खोजपूर्ण एवं मौलिक है, समेटना सरल नहीं है, किंतु डॉ.गौड़ ने इसे सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है।

इस बहुप्रतीक्षित ग्रंथ के प्रकाशन के लिये मैं लेखक एवं प्रकाशक को भरपूर साधुवाद देता हूँ। पूरा विश्वास है कि भारत के जैन-वाङ्मय में यह कृति अति उपादेय एवं स्वागतार्ह सिद्ध होगी। मुझे यह कहने में कतई संकोच नहीं है कि चर्चा डॉ.गौड़ के शोध-प्रबंध की तो हो ही रही है, आनंद तो तब होगा जब कोई सुधी शोधकर्ता उन पर और उनके बहुविध अवदानों पर अनुसंधान करें, उनके श्रम और अनवरत साधना पर प्रकाश डाले, तब ही लेखक के साथ न्याय होगा।

-डॉ.श्यामसुन्दर निगम
निदेशक, श्री कावेरी शोध संस्थान
समर्पण, 34, केशवनगर,
हरीराम चौबे मार्ग, उज्जैन-456010

यत्किंचित

मेरे शोध प्रबंध के प्रकाशन के लिये पूर्व में प्रयास किये गये थे, किन्तु सफलता नहीं मिल पाई। मित्रों का आग्रह बना रहा कि किसी भी प्रकार से शोध प्रबंध का प्रकाशन होना चाहिए। समय अपनी गति से व्यतीत होता रहा और मैं अन्यान्य कार्यों में व्यस्त रहा। इस वर्ष कुछ संयोग बना और 37 वर्षों पूर्व लिखा गया यह शोध प्रबंध अब पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध के प्रकाशन का **श्रेय परमश्रद्धेय राष्ट्रसंत आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा.** को है। इस शोध प्रबंध के लिये उन्होंने मेरी कामना के रूप में अपने आशीर्वचन भी लिखकर उपलब्ध करवाये। इसके लिये मैं श्रद्धेय आचार्य भगवन् के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। साथ ही प्रख्यात इतिहासविद् माननीय डॉ.श्यामसुंदरजी निगम, निदेशक, श्री कावेरी शोध संस्था, उज्जैन ने मनोयोगपूर्वक मेरे शोध प्रबंध का अध्ययन कर अपना अभिमत उपलब्ध करवाया है। अतः मैं उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

प्रस्तुत शोध ग्रंथ में त्रुटियाँ रह सकती हैं। विज्ञ पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि वे त्रुटियों को सुधार कर अध्ययन करने का कष्ट करें और सम्भव हो तो मुझे सूचित करने का स्पष्ट करें, ताकि अवसर मिलने पर उनका समाधान किया जा सके।

सहयोग की अपेक्षाओं के साथ...

तेजसिंह गौड़

एल-45, कालिदास नगर,
पटेल कॉलोनी, अंकपात मार्ग,
उज्जैन - 456006 (म.प्र.)
दिनांक : 17 नवम्बर 2010

अनुक्रमणिका

(i) समर्पण { iii }

(ii) मेरी कामना - राष्ट्रसंत आचार्य विजय जयंतसेनसूरि { v }

(iii) अभिमन - डॉ.श्यामसुंदर निगम. { vii }

(iv) यत्किंचित { viii }

प्रस्तावना ::: 1

मालवा की सीमा

शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य

शोध-प्रबन्ध की विषय-वस्तु

शोध-प्रबन्ध का क्षेत्र

शोध-प्रबन्ध की मौलिकता।

अध्याय - 1 :: स्रोत 5

साहित्य : साहित्यिक ग्रन्थ, ऐतिहासिक ग्रन्थ, प्रशस्ति संग्रह, पट्टावलियां, तीर्थमाला एवं सचित्र ग्रन्थ।

पुरातत्व : शिलालेख, मूर्तिलेख, मूर्तियां, मंदिर एव गुफाएं।

अध्याय - 2 :: जैनधर्म का ऐतिहासिक महत्त्व 8

जैनधर्म का प्रदुर्भाव व प्रसार। मालवा में जैनधर्म। प्रद्योत के समय, मौर्यकालीन मालवा में जैनधर्म। शक-कुष्षाणयुगीन मालवा में जैनधर्म। गुप्तकालीन मालवा में जैनधर्म। राजपूतकालीन मालवा में जैनधर्म।

अध्याय - 3 :: जैनधर्म में भेद-उपभेद 24

- महावीर के समय मत वैभिन्न।
- श्वेताम्बर व दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव।
- दिगम्बर मत।
- श्वेताम्बर मत।
- दिगम्बर-श्वेताम्बर में मतान्तर।
- संघ, गण और गच्छ।
- प्राचीनतम गण।
- वृहद्गच्छ, खरतरगच्छ, तपागच्छ, आंचलगच्छ और अन्य गच्छ।
- पूर्णिमियागच्छ और सार्धपूर्णिमियागच्छ, आगमिकगच्छ, चन्द्रगच्छ, नागेन्द्रगच्छ, निवृत्तिगच्छ।

दिगम्बर संघ : मूलसंघ, द्राविड़ संघ, काष्ठासंघ और माथुरसंघ। चैत्यवासी तथा अन्य सम्प्रदाय, लोंका, स्थानकवासी, तेरापंथी, (श्वेताम्बरी तथा दिगम्बरी) तारणपंथी, गुमानपंथी, बीसापंथी एवं तोतापंथी।

अध्याय - 4 :: जैनधर्म में विभिन्न जातियां और गोत्र 42

आधुनिक जैन जातियां - ओसवाल, श्रीमाल, पोरवाड़, खण्डेलवाल, परवार, अग्रवाल, पल्लीवाल, हुम्मड़, बघेरवाल, नरसिंहपुरा, जैसवाल, चित्तौड़ा, नागदा, धरवट, श्रीमोड़ आदि।

इनकी उत्पत्ति, उत्पत्ति का कारण, उत्पत्ति का समय, इनके विभिन्न गोत्र, स्थान, व्यक्ति व कुल के कारण।

अध्याय - 5 :: मालवा की जैन कला 58

स्थापत्य कला - प्रारम्भिक जैन स्थापत्य, गुप्त एवं राजपूतकालीन स्थापत्य कला।

जैन मूर्तिकला - जैन प्रतिमाओं की विशेषताएं, जैन देवों के विभिन्न वर्ग, गुप्तकालीन जैन मूर्तिकला, राजपूतकालीन जैन मूर्तिकला।

जैन चित्रकला

अध्याय - 6 :: मालवा में जैनतीर्थ 88

जैन धर्म में तीर्थों के भेद।

जैनतीर्थ - उज्जैन, विदिशा, दशपुर, मांडवगढ़, धार, बावनगजा बड़वानी, ऊन, धमनार, बही पारसनाथ, घसोई, गंधावल, लक्ष्मणी, तालनपुर चन्देरी, बजरंगगढ़, तूमैन, भोपावर, बिबड़ौद, सांगोदिया, सेमलिया, सिद्धवरकूट, मक्सी पार्श्वनाथ, परासली, अमझेरा, तारापुर, बनेड़िया, मल्हारगढ़, रतलाम, धोवनजी, गुरिलागिर, भीमादांत, तेरही, आमनचार, मोहनखेड़ा।

अध्याय - 7 :: जैन वाङ्मय 110

- जैन साहित्य का भाषा विज्ञान के दृष्टिकोण से महत्त्व।
- आगमिक एवं दार्शनिक साहित्य।
- कथा साहित्य।
- काव्य और महाकाव्य।
- स्तोत्र साहित्य।
- अलंकार व्याकरण साहित्य।
- अन्य साहित्य।

अध्याय - 8 :: जैन शास्त्र भण्डार 121

- शास्त्र भण्डारों की स्थापना।
- जैन मंदिर ज्ञानपीठ के रूप में।
- ग्रन्थो की प्रतिलिपि करना।
- ग्रन्थों को रखने का स्थान व ढंग।
- मालवा के शास्त्र भण्डार।

अध्याय - 9 :: मालवा के प्रमुख जैनाचार्य 130

अध्याय - 10 :: जैनधर्म को मालवा की देन 154

प्रस्तावना

पूर्वकालीन ऐतिहासिक पुराण युग के मालव प्रदेश का इतिहास लोकोत्तर है। इस शस्य यामला भूमि को अनेक महाराजाओं, ऋषि-मुनियों और महापुरुषों ने भूषित किया है। भारतीय संस्कृति एवं इतिहास में इस प्रदेश का विशिष्ट स्थान है। अतः समय-समय पर ऐसे विचार आते रहे कि मालवा के इतिहास के विभिन्न अंगों पर शोध कार्य होना चाहिये जिससे नये-नये तथ्य प्रकट हों। इन्हीं विचारों को मूर्त्त रूप देने के लिए मैंने मालवा के इतिहास के किसी एक अंग को लेकर शोध करने का विचार किया। किन्तु वह एक अंग कौनसा हो? यह गंभीर रूप से विचार करने के उपरांत ऐसे विषय की ओर ध्यान गया जिस पर अद्यावधि विस्तृत रूप से शोध कार्य नहीं हुआ था। वह विषय था, **'प्राचीन एवं मध्यकालीन मालवा में जैनधर्म का अध्ययन'** अर्थात् ई.पूर्व से ई.सन् 1200 तक के मालवा में जैनधर्म के विकास और इतिहास का अध्ययन। इस विषय पर अभी तक न तो शोध कार्य ही हुआ था और न ही कोई पुस्तक उपलब्ध थी।

मालवा की सीमा - आरम्भ में मालवा की भौगोलिक सीमाएं निर्धारित करनी होंगी। इस सम्बन्ध में निम्नांकित उक्ति प्रचलित है जो यद्यपि अर्वाचीन है पर निःसंदेह प्राचीन परंपराओं पर अवलंबित है और एक सामान्य परिधि प्रस्तुत करती है।

इत* चम्बल उत बेतवा मालव सीम सुजान।**
दक्षिण दिसि है नर्मदा, यह पूरी पहिचान।।[1]

अर्थात् जिसके पूर्व में बेतवा, उत्तर पश्चिम में चम्बल और दक्षिण में नर्मदा बहती है वही मालवा है। डॉ.रघुवीरसिंह मालवा की सीमा के विषय में लिखते हैं कि उत्तर-पश्चिम में मालवा को कांथल और बागड़ प्रदेश गुजरात और राजपूताना से अलग करते हैं और दक्षिण-पूर्व में मालवा की सीमा हाड़ोती, गोंडवाना और बुन्देलखण्ड द्वारा निर्मित है।[2] श्री उपेन्द्रनाथ डे भी मालवा की प्रायः यही सीमा बताते हैं।[3] मालवा के सम्बन्ध में पं.सूर्यनारायण व्यास का कथन है कि आज जिस शस्य श्यामल भूखण्ड को मालव प्रदेश कहा जाता है, वह उज्जैन के चारों ओर का विभाग ही है। परन्तु पुरातनकाल में गुजरात से लेकर बुन्देलखण्ड तक विस्तृत नर्मदा के उत्तर की भूमि, जिसमें चम्बल, बेतवा आदि नदियों का उद्गम है, वह समूची भूमि मालव भूमि मानी जाती थी। 'माल' शब्द का ही दूसरा नाम मालव है। यादव कोश में भी "मालं मालव देशेच" लिखा है। इससे ज्ञात होता है, 'माल' और 'मालव' यह एक ही भाव के दो शब्द हैं। कालिदास ने मालवा को ऊंची

भूमि 'माल' कह कर व्यक्त किया है।[4] प्राचीन समय में चम्बल प्रवाहित प्रदेश को अर्थात् पश्चिम मालवा को 'अवन्ती' और बेतवा प्रवाहित पूर्व भाग को 'आकार' और इसी प्रकार नर्मदा तीरस्थ दक्षिण भाग को अनूप कहा जाता था। उज्जैन-अवन्ती की ओर विदिशा 'आकार' की राजधानी थी। मेघदूत में 'आकार' का नाम 'दशार्ण' लिखा है और उसकी राजधानी दशपुर बतायी गयी है। कालिदास लिखते हैं कि दशार्ण तथा अवन्ती के बीच निर्विन्ध्या नामक नदी बहती थी।[5] कालिदास के अनन्तर प्रायः हजार वर्ष बाद मालवा प्रधानतः ग्वालियर, होल्कर, रतलाम, भोपाल और धार राज्य में विभाजित हो गया था।[6]

इस प्रकार हम मोटे रूप में वर्तमान मध्यप्रदेश में मालवा क्षेत्रांतर्गत निम्नांकित जिले तथा उनके लगे हुए भूखण्ड को सम्मिलित कर सकते हैं:-

उज्जैन, इन्दौर, देवास, धार, झाबुआ, रतलाम, मन्दसौर, शाजापुर, राजगढ़ (ब्यावरा), सीहोर, विदिशा तथा गुना। फिर भी किसी प्रदेश को निश्चित सीमा में नहीं बांधा जा सकता। जो भी सीमा हम निर्धारित करते हैं, वह अध्ययन की सुविधा के दृष्टिकोण से करते हैं। अतः मालवा की सीमा भी केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से भी निर्धारित की गई है।

शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य - निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मालवा में जैनधर्म का उदय कब हुआ, तथा विभिन्न युगों में मालवा में जैनधर्म की स्थिति कैसी रही? जैनधर्म के विविध अंगों का स्वरूप कैसा रहा? यद्यपि इस विषय पर स्फुट जानकारी यत्र-तत्र बिखरी पड़ी थी, एक स्थान पर विस्तृत रूप से उसका अध्ययन अब तक नहीं हुआ था। जैनधर्म के पुरातात्विक अवशेषों का भी कला के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान है। उनका भी समुचित अध्ययन आवश्यक होगा। अतः इस शोध प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य है मालवा में जैनधर्म और उसके विभिन्न अंगों का अध्ययन प्रस्तुत कर एक नये अध्याय का प्रारम्भ करना। जैनधर्म के इस अध्ययन से मालवा के इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ता है। कला एवं साहित्यिक क्षेत्र में अमूल्य निधि प्राप्त होती है।

शोध-प्रबन्ध की विषय वस्तु- शो-प्रबन्ध की विषय-वस्तु संक्षेप में इस प्रकार है:-

(1) जैनधर्म का ऐतिहासिक महत्त्व - इस अध्याय में जैनधर्म के प्रादुर्भाव से प्रारम्भ कर प्रसार को बताते हुए विभिन्न ऐतिहासिक युगों में प्रद्योत काल से लेकर राजपूत काल तक उसके अस्तित्व स्थिति तथा विकास पर प्रकाश डाला गया है।

(2) जैनधर्म के भेद व उपभेद - यह अतिविस्तृत विषय है। इसमें सर्वप्रथम

श्वेताम्बर दिगम्बर भेदों की उत्पत्ति बताई गई है, तत्पश्चात् संघ, गण, गच्छ तथा अन्य सम्प्रदाय जैसे चैत्यवासी, स्थानकवासी और पंथ जैसे बीसापंथ, तारणपंथ, तेरापंथ, तोतापंथ, गुमानपंथ आदि पर प्रकाश डाला गया है। भट्टारकों की उपलब्ध पट्टावलियां भी दी गई हैं। चूंकि अधिकांश उपभेद हमारी समय सीमा के पर्याप्त बाद के हैं, उन पर विस्तार से चर्चा न करके उत्पत्ति व समय आदि पर ही विचार किया गया है।

(3) जैनधर्म में विभिन्न जातियां व गोत्र- जैनधर्म में पाई जाने वाली प्रमुख जातियों की उत्पत्ति, उत्पत्ति का समय तथा उनके गोत्रों की संख्या बताई गई है।

(4) जैन कला - जैन कला नाम अध्ययन की सुविधा के लिये दिया गया है। वास्तव में इसे भारतीय कला से अलग नहीं किया जा सकता। इसमें प्रथम स्थापत्य कला जैन लक्षणों के सन्दर्भ में, मालवा के जैन मंदिरों, गुफाओं आदि पर प्रकाश डाला गया है। मूर्तिकला के अन्तर्गत मूर्तिकला की विशेषताएं, मूर्तिलक्षण, तीर्थंकर विशेष के व्यक्तिगत चिह्न आदि को बताते हुए मालवा में प्राप्त जैन मूर्तियों की कला पर प्रकाश डाला गया है। जैन चित्रकला के उपयोग में आने वाले रंगों, उपकरणों आदि के साथ ही चित्रों की विशेषताओं पर भी विचार व्यक्त किया गया है।

(5) मालवा में जैनतीर्थ - इस प्रसंग में जैनधर्म के अनुसार तीर्थ की व्याख्या की गयी है और मालवा के दिगम्बर तथा श्वेताम्बर तीर्थों पर प्रकाश डाला गया है।

(6) जैन वाङ्मय - इस अध्याय के अन्तर्गत मालवा में जैन साहित्य के निर्माताओं की देन पर चर्चा हुई है साथ ही इसमें साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों, जैसे दार्शनिक तथा आगम साहित्य, कथासाहित्य, काव्य आदि पर विवेचन हुआ है।

(7) जैनशास्त्र भण्डार - इस अध्याय के अन्तर्गत मालवा के शास्त्र भण्डारों की चर्चा की गई है। इनमें ग्रन्थों की सुरक्षा, प्रतिलिपि निर्माण आदि का भी निरूपण हुआ है।

(8) मालवा के प्रमुख जैनाचार्य - इस अध्याय के अन्तर्गत मालवा के प्रमुख जैनाचार्यों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। इसमें कई आचार्य तो युग-प्रधान हुए हैं।

शोध-प्रबन्ध का क्षेत्र - ईसा से लगभग 600 वर्ष पूर्व से लगभग 1200 ई.सन् तक के समय को शोध-प्रबन्ध की काल सीमा मानकर यह शोध-प्रबन्ध लिखा गया है। किन्तु इस प्रकार के बन्धन का निर्वाह केवल अपनी सुविधा से करना आसान नहीं होता, इस कारण कहीं-कहीं हम अपने इस प्रतिबंध को लांघ गये हैं।

शोध-प्रबन्ध की मौलिकता - मालवा में जैनधर्म के ऐतिहासिक विकास, जैनकला, जैनतीर्थ, जैन वाड्मय, जैनाचार्य, जैन जातियां व गोत्र, जैनधर्म के भेद व उपभेद तथा मालवा के जैन शस्त्र भण्डारों का शोध-प्रबन्ध में विवेचन कर मालवा के इतिहास को जैनधर्म की अमूल्य देन प्रकट की गई है। अनेक कलात्मक अवशेष अनमोल धरोहर के रूप में सुरक्षित हैं। जिस सामग्री का अद्यावधि अभाव था उसकी पूर्ति इस शोध-प्रबन्ध के माध्यम से करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

मैं अपने गुरुवर इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व के ख्याति प्राप्त विद्वान श्रद्धेय डॉ.भगवतशरणीजी उपाध्याय, आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। क्योंकि मैं जो कुछ भी प्रस्तुत कर रहा हूं वह आपके ही सुयोग्य मार्गदर्शन का प्रतिफल है। इसी तारतम्य में पूज्य मुनि श्री अभयसागरजी का भी मैं कृतज्ञ हूं। यदि मुनिश्री के द्वारा मुझे समय-समय पर यथोचित सहायता नहीं मिलती तो शायद मेरा यह कार्य मार्ग में ही कहीं रूक जाता। डॉ.के.सी.जैन के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूं, क्योंकि उनकी कृपा के परिणाम स्वरूप ही मुझे श्रद्धेय डॉ.उपाध्यायजी का मार्गदर्शन सुलभ हुआ। मेरे अनन्य मित्र एवं ज्येष्ठ भ्राता के समान डॉ.ए.बी.शिवाजी को कैसे भुला सकता हूं? चाहे दिन हो या रात डॉ.शिवाजी मेरे साथ बराबर बिना सर्दी, गर्मी एवं वर्षा की चिंता किये भटकते रहे हैं। साथ ही आप ने मेरे नेराश्य को सदैव निरूत्साहित किया है। अतः यदि मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट नहीं करता तो यह मेरी कृतघ्नता होगी।

सिंधिया प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान, खाराकुआ उज्जैन जैन मंदिर का पुस्तकालय, दिगम्बर जैन मंदिर नयापुरा उज्जैन का शास्त्र भण्डार आदि के व्यवस्थापक महोदय एवं कार्यकर्ताओं का मैं आभार प्रकट करता हूं। साथ ही उन समस्त ज्ञात अज्ञात लेखकों का भी मैं आभारी हूं जिनकी पुस्तकों से मैंने अपने शोध प्रबन्ध में उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उनका उल्लेख अपना कर्त्तव्य समझ कर यथा स्थान किया है।

संदर्भ सूची

1 विक्रम स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 544 - * पश्चिम उत्तर दिशा का सूचक। ** पूर्व दिशा का सूचक।

2. Malwa in Transition, Page 3
3. Medieval Malwa, Page 2
4. मेघदूत, 16, पूर्व मेघ
5. मेघदूत, 30
6. विक्रम (महाभारत अंक, आषाढ़ श्रावण 2009, पृष्ठ 22

अध्याय - 1
स्रोत

"प्राचीन एवं मध्यकालीन मालवा में जैन धर्म का अध्ययन" विषय का चयन करने के संदर्भ में मुझे भारतीय इतिहास के निर्माण के साधनों में जैनधर्म की सीमित पुस्तकों का संग्रह देखने को मिला। इनमें आचारांगसूत्र, कल्पसूत्र, भद्रबाहु संहिता, पुण्याश्रव, कथाकोश, प्रबन्धचिंतामणि एवं इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थों के नाम लिये जा सकते हैं। किन्तु मात्र इस प्रकार के ग्रन्थों से मेरा शोध प्रबन्ध पूर्ण हो जाता यह सम्भव नहीं था। ग्रन्थों के अवलोकन से शीघ्र ही मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि इस विषय में तो अतुल साहित्य उपलब्ध है जिसका चयन (1) Bibliography of Madhya Bharat Part-I Archaeology by Dr. H.V. Trivedi (2) Jain Bibliography by chhotelal Jain (3) जिनरत्नकोश- एच.डी.वेलनकर (4) जैन साहित्य और इतिहास - नाथूराम प्रेमी और अन्य ग्रन्थों एवं पत्र-पत्रिकाओं में हुआ है। इस अध्ययन के आधार पर मैंने यह भी जाना कि मालवा में जैन साहित्य और पुरातत्त्व विषयक पर्याप्त सामग्री संचित करनी है और उसको व्यवस्थित रूप से अध्ययन द्वारा ग्रंथित करने की आवश्यकता है।

मालवा में जैनधर्म के स्रोतों को हम निम्नांकित विभागों में विभक्त कर सकते हैं:-

(1) साहित्य - साहित्यिक ग्रंथ, ऐतिहासिक ग्रंथ, प्रशस्ति संग्रह, पट्टावलियां, तीर्थमाला एवं सचित्र ग्रंथ।

(2) पुरातत्त्व - शिलालेख, मूर्तिलेख, मूर्तियां, मंदिर एवं गुफाएं।

(1) साहित्य - साहित्यिक ग्रन्थों में वैसे तो ऐतिहासिक सामग्री प्रायः नहीं मिलती, किन्तु प्रसंगवश उल्लेख आ जाने से हमें इस प्रकार की जानकारी मिल जाती है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक ग्रन्थो में संघों, गणों, गच्छों का भी उल्लेख मिल जाता हैं तथा कहीं कहीं उनकी उत्पत्ति तथा उनकी स्थापना करने वाले आचार्यों एवं उसके प्रसार संबंधी भी सामग्री प्राप्त हो जाती है। कुछ जैन विद्वानों

ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ग्रन्थों की रचना की है, जो इतिहास परक ग्रन्थ बन गये हैं। इनमें विशेषकर चरित ग्रन्थ अधिक महत्व के हैं। ये किसी तीर्थंकर या राजा को चरित् नायक मानकर लिखे होने से ऐतिहासिक सामग्री के आगार बन गये हैं। किन्तु इस प्रकार के ग्रन्थों का एक दोष यह है कि जैनधर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करने में अनेक अतिश्योक्तिपूर्ण उल्लेख समाविष्ट हो गये हैं। ये स्वाभाविक ही ऐतिहासिक प्रमाणों के विरोधी हैं। अतः प्रसंगों का विशेष अध्ययन और विवेचन आवश्यक हो गया है।

जैन विद्वानों की एक अनूठी देन यह है कि वे पुस्तक समाप्त हो जाने के उपरांत अंत में एक प्रशस्ति अंकित करते हैं। इस प्रकार की प्रशस्तियां बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। इन प्रशस्तियों से हमें ग्रन्थकार, लिपिकार, ग्रन्थ लिखने या ग्रन्थ की लिपि करने का कारण किसके कहने से ग्रन्थ लिखा अथवा ग्रन्थ की प्रतिलिपि की उसका नाम लेखन और लिपि करने का समय, ग्रन्थकार और लिपिकार का वंश, माता-पिता के नाम तथा जिस राजा के राज्यकाल में वह ग्रन्थ लिखा गया उसका नाम, जिस स्थान पर बैठकर लिखा गया उसके नाम आदि का उल्लेख मिलता है जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण होता है। कुछ प्रशस्तियों में स्पष्ट ऐतिहासिक उल्लेख भी मिल जाते हैं। इसी प्रकार जो पट्टावलियां उपलब्ध है उनमें आचार्यों की परम्परा का उल्लेख होता है। पट्टावलियों से पट्टधर आचार्यों के विषय में भी जानकारी मिलती है। तीर्थमाला सम्बन्धी ग्रन्थों से मालवा के जैन तीर्थों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सचित्र ग्रन्थों से जैन चित्रकला के विकास, उपकरण एवं काम में आने वाले विभिन्न प्रकार के रंगों का तो पता चलता ही है, उसकी शैलीगत विशेषताओं की जानकारी भी मिली है। जैन चित्रकला जिसे कि अपभ्रंश शैली[1] का नाम दिया है अपना विशिष्ट स्थान रखती है। चित्रकला के उद्धरणों में हमें जैनधर्म की मान्यताओं का चित्रांकन मिलता है अथवा जैन तीर्थंकर के जीवन से सम्बन्धित किसी घटना का अंकन दिखाई देता है। इस प्रकार से जैन चित्रकला कला के अतिरिक्त अपने गर्भ में किसी कथानक को निहित रखती है।

(2) पुरातत्त्व : जिस बात का उल्लेख हमें साहित्य ग्रन्थों में मिलता है पर उसके लिये कोई पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता वह प्रमाणिक प्रायः नहीं माना जाता किन्तु जब पुरातात्विक अवशेषों के द्वारा भी उस साहित्यिक उल्लेख की पुष्टि हो जाती है तो वह प्रामाणिक सिद्ध होती है। पुरातत्व का साक्ष्य इतिहास के लिये एक जीवंत प्रमाण माना जाता है। मालवा में जैनधर्म से सम्बन्धित सबसे प्राचीन पुरातात्विक प्रमाण गुप्तकालीन हैं जो उदयगिरि (विदिशा)

की गुफाओं के तथा उनमें उत्कीर्ण अभिलेखों और पार्श्वनाथ तीर्थंकर की प्रतिमाओं के रूप में उपलब्ध हैं। मूर्तिलेखों में मूर्ति के निर्माणकाल, प्रतिष्ठाता आचार्य व उनकी परम्परा में उनसे पूर्वी आचार्यों के नाम, संघ, गण, गच्छ तथा मूर्तिदाता का नाम एवं कभी कभी राजा का नाम जिसके राज्यकाल में मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई, आदि की जानकारी मिलती है। मूर्ति लेखों की यह जानकारी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होती है। इसका महत्त्व इसलिये भी अधिक होता है कि अधिकतर यह तिथिपरक होती है।

मूर्तियों से मूर्तिकला सम्बन्धी जानकारी तथा जैनधर्म में मूर्तिकला से सम्बन्धित लक्षणों के आधार पर जैन मूर्तिकला के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। विभिन्न आसनों में प्राप्त जैन प्रतिमाएं कला की अमूल्य धरोहर है। अनके कलात्मक एवं सुन्दर जैन प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं जो अपनी विशेषता रखती है। इसी प्रकार जैन मंदिरों में स्थापत्यकला के वैभव का ज्ञान होता है। जैन मंदिरों के निर्माण की योजना किस प्रकार की है, गर्भगृह, शिखर, सभामण्डप आदि किस प्रकार से बने हैं आदि बातों का पता जैन मंदिरों को देखने से ही चलता है। इसके अतिरिक्त मालवा के अनेक जैन मंदिर अपनी कला के लिये भी प्रसिद्ध हैं।

इस शोध-प्रबन्ध में उपर्युक्त विधि से प्राप्त सामग्री का यथा-सम्भव उपयोग किया गया है।

संदर्भ सूची :

1 भारतीय चित्रकला, पृष्ठ 135-36

अध्याय - 2

जैन धर्म का ऐतिहासिक महत्त्व

ऋग्वैदिक काल पुरोहित का काल था जब प्रकृति के देवताओं देवियों की उपासना होती थी और कर्मकाण्ड का प्राधान्य था।

उत्तर वैदिक काल में भूत प्रेत, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र एवं जादू टोना आदि में लोगों का विश्वास और भी अधिक बढ़ चुका था। प्राचीन वैदिक देवताओं, जो कि कर्मकाण्ड के प्रतीक थे, के स्थान पर इस समय नये नये देवताओं की पूजा, प्रतिष्ठा, जब एक भार अथवा भारी बोझ के समान लोगों पर जबरन थोपी जा रही थी। इस कारण इस अज्ञान को दूर करने के लिये नवीन दार्शनिक सिद्धान्तों और सम्प्रदायों का उदय हो रहा था। यह स्वाभाविक भी है कि जब मनुष्य प्राचीनता से ऊब जाता है तो मनुष्य उनके प्रति विद्रोह कर उठता है। दूसरे शब्दों में हम बौद्ध धर्म और जैनधर्म को तत्कालीन वर्तमान धर्म के प्रति विद्रोह की संज्ञा दे सकते हैं। इस युग में महान् चेता जैसे मवखलि गोसाल, अजितकेस कम्बलिन, आलारकालाम, प्रबुद्ध कच्चान, गौतम बुद्ध तथा महावीर अपने अपने संघ बनाकर घूम रहे थे और इस चिंता में थे कि संसर में दुःख क्यों होता है, इसका कारण क्या है, इसका निवारण किस प्रकार हो सकता है? इन चेताओं के मन में तत्कालीन धर्म के प्रति असंतोष था और उससे एक मार्ग की तलाश में ये नेता थे। यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो इस धार्मिक क्रांति के निम्नलिखित कारण दिखाई देते हैं:-

(1) ऐसा नहीं कि केवल भारत में ही उस काल धार्मिक क्रांति हुई हो। सारे संसार मैं उस काल बौद्धिक गवेषणा और समसामयिक विश्वासों के प्रति चुनौती हवा में थी। भारत में संघबद्ध चिंतक, चीन में कन्फ्यूशस और लाओ-त्जू, ईरान में जरथुस्थ्र और इस्रायल में पुराने पौथी के नबि - सभी नये बौद्धिक जगत् का निर्माण कर रहे थे, पुराणवाद को ललकार रहे थे। उस काल बाइबिल की पुरानी पौथी के नबियों की भांति तो खरा और निर्भिक बोलने वाले विचारक कहीं नहीं थे।

(2) देश में उस समय विभिन्न प्रकार के यज्ञों और अनुष्ठानों का प्राबल्य

हो रहा था और इस कार्य में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक के विभिन्न संस्कारों को सम्पन्न कराने वाले ब्राह्मण वर्ग कर्मकाण्ड द्वारा लोगों को परलोक संबंधी सुख के लोभ से लुभाकर स्वार्थ साध रहे थे। अपने तथाकथित ज्ञान को भी वे अपने तक ही सीमित रखना चाहते थे यद्यपि उसे वे देव सम्मत घोषित करते थे। उस ज्ञान पर उनका एकाधिकार था परिणामतः जनता में उनके प्रति असंतोष था। देश में जो संघ बद्ध विचारक सत्य की खोज में घूम रहे थे उनकी चुनौती जो बौद्धिक थी उसका समाधान भी ब्राह्मणों के पास न था।

(3) रूढ़िवादी धाराओं के प्रवाह ने जीविकोपार्जन के साधनों को जाति विशेष तक सीमित कर दिया था और किसी क्रांतिकारी विचार को क्रियात्मक रूप देने वाले समाज द्वारा तत्काल कुचल दिया जाता था। इससे निम्नवर्ग के लोगों में घोर असंतोष छाया हुआ था और वे मानव मात्र के एक ऐसे सच्चे उद्धारक के नेतृत्व में जीवन को मुक्त एवं वास्तविक शांति उपलब्ध करने के लिये आतुर थे।

(4) इस समय तक जितने धर्मग्रन्थों, वेदों, उपनिषदों और पुराणों आदि का सृजन हुआ था, वे सब संस्कृत भाषा में ही थे। यहां तक कि रामायण और महाभारत आदि जैसे परम उपयोगी ग्रन्थों की भाषा भी संस्कृत ही थी जो सामान्यजन की बोलचाल की भाषा से अत्यंत क्लिष्ट थी। ऐसी दशा में ईश्वर और जीव की परिभाषा भी केवल ब्राह्मण ही जानते थे और वे अपना ज्ञान दूसरों को बताने में संकुचित दृष्टिकोण रखते थे। ऐसे समय में गौतम और महावीर ने जन-सामान्य की भाषा का प्रयोग किया जो सबके लिये समझना सरल हो गया।

(5) स्त्रियों की स्थिति भी उत्तम नहीं कही जा सकती। यद्यपि ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के उदाहरण मिलते हैं। तथापि वे शिक्षा से प्रायः वंचित हो चुकी थी क्योंकि परिवार के सदस्यों को सुविधा पहुंचाने और संतान उत्पत्ति के अतिरिक्त कोई विशेष अवसर नहीं दिया जाता था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्त्रियों का नैतिक स्तर दिन-प्रतिदिन अधःपतन की दिशा में ही गिरता जा रहा था।

(6) सामान्य वर्ग में ईश्वर और जीवन के विषय में चर्चा तो अधिक होती थी और यज्ञ-अनुष्ठानों का जोर भी था, किन्तु ये कार्य केवल धनी मानी लोग ही कर सकते थे एवं जनसाधारण तथा निम्नवर्ग के लोग इतना समय व्यय करने में असमर्थ होने के कारण इनमें उचित रूप से भाग नहीं ले सकते थे।

इस प्रकार इस समय ब्राह्मण वर्ग निश्चेष्ट तथा उत्तरदायित्वहीन हो चला था और देश एवं समाज का नैतिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्रों में वास्तविक नेतृत्व करने वाले निस्वार्थ मार्गदर्शकों की आवश्यकता थी। यहां यह उल्लेख कर देना

भी आवश्यक है कि यदि गौतम बुद्ध और वर्द्धमान महावीर ने अवतरित होकर ब्राह्मण धर्म के रूढ़िवाद पर कुठाराघात न किया होता तो कदाचित भारत का समस्त ज्ञान लुप्त हो जाता। यह एक अटल सत्य है कि बाद में इन धर्म गुरुओं के पीछे सम्प्रदायों का रूप धारण करने वाले बौद्ध एवं जैन धर्मों में लुप्त प्रायः वैदिकधर्म को पुनर्जागृत करने के लिये एक उत्तेजक प्रतिक्रिया का कार्य किया किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि जैनधर्म भी उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक धर्म[1] और इसके समर्थन में ये विद्वान् सैंधव सभ्यता में प्राप्त पशुपति या योगी मूर्ति तथा ऋग्वेद के कैशी सूक्त[2] में वर्णित तपस्वियों और श्रमणों का सम्बन्ध प्रतिपादित करते हैं। ऋग्वेद के मंत्रों में जैनधर्म के प्रमुख तीर्थंकर ऋषभदेव का सन्दर्भ भी देते हैं।[3] इसी प्रकार वे अथर्ववेद[4], गौपथ ब्राह्मण[5], श्रीमद् भागवत[6] आदि के प्रमाण प्रस्तुत कर जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करते हैं। इसी तारतम्य में यह उल्लेख कर देना भी उचित ही होगा कि जैनधर्म में चौबीस तीर्थंकर की गणना है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे, जिनका उल्लेख ऋग्वेद में बताया जाता है। इनके अतिरिक्त 23 और तीर्थंकर हुए हैं। बाईस तीर्थंकरों के विषय में ठीक ठीक ऐतिहासिक जानकारी नहीं मिलती। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ माने जाते हैं जिनका जन्म बनारस के राजा अश्वसेन के यहां क्षत्रिय कुल में हुआ था। इनकी माता का नाम वामा था। कुशस्थल देश के राजा नरवर्मन् की राजकन्या प्रभावती से उनका विवाह हुआ था। तीस वर्ष तक ये राजकीय वैभव ऐश्वर्य और सुख-समृद्धि का आनन्द उठाते रहे। इसके बाद उन्होंने संसार त्याग दिया और तपस्या तथा सन्यास का मार्ग अपनाया। चौरासी दिनों की घोर तपस्या के उपरान्त समवेत पर्वत पर उन्हें कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् वे सत्तर वर्ष तक विभिन्न प्रदेशों में घूमते रहे और अपने ज्ञान तथा सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। उनके सर्वप्रथम अनुयायी उनकी माता और स्त्री थीं। सौ वर्ष की आयु में उनका निर्वाण हुआ। किन्तु तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तक जैनधर्म को कोई उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। उधर जाति व्यवस्था कठोर होती चली जा रही थी। उच्च वर्ग विशेषकर ब्राह्मण वर्ग से निम्न वर्ग त्रस्त था और अपनी मुक्ति के लिये किसी दिव्य नेतृत्व की खोज में था। ऐसे समय जब कि समाज का ढांचा धार्मिक रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था, एक ऐसे दिव्य पुरुष ने जन्म लिया जिसने तत्कालीन समाज को एक नई राह दिखाई। उस महापुरुष का नाम था वर्धमान। वर्धमान के पिता सिद्धार्थ वज्जिसंघ के सात हजार सात सौ सात राजाओं में से एक थे। माता त्रिशला लिच्छवि वंश की थी। बाल्यकाल और युवावस्था में वर्धमान को ज्ञान तथा कला के सभी क्षेत्रों में राज्योचित शिक्षा दी

गई। वर्धमान का विवाह यशोदा नामक राजकुमारी से हुआ और कुछ समय उपरांत उससे एक कन्या भी हुई जिसका नाम अणंज्जा था। अणंज्जा का विवाह जमालि नामक क्षत्रिय से हुआ। कालान्तर में जमालि वर्धमान महावीर के उपदेश सुनकर उनका प्रथम शिष्य बन गया और बाद में जैनधर्म की प्रथम शाखा का नेता बना।

तीस वर्ष की आयु तक वर्धमान ने वैभव का जीवन व्यतीत किया। किन्तु वे अधिकाधिक चिंतनशील और निवृत्ति मार्गी होते गये। अंत में अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन की आज्ञा लेकर उन्होंने तीस वर्ष की आयु में अपना गृह त्याग दिया और सत्य की खोज में सन्यासी हो गये।

निर्लिप्त, मौन और शांत रहकर वर्धमान ने बारह वर्ष तक कठोर तपस्या की। तपस्वी जीवन के तेरहवें वर्ष में वैशाख मास की दसमी के दिन जृंभिक ग्राम में बाहर पार्श्वनाथ शैल शिखर के पास ऋजुबालिका नदी के तट पर शाल वृक्ष के नीचे वर्धमान को 'कैवल्य' ज्ञान की प्राप्ति हुई। कैवल्य का अर्थ है, निर्मल पवित्र ज्ञान। जिसके लिये बाह्य और आभ्यन्तर विविध प्रकार के तप तपे जाते हैं। वह लक्ष्यभूत केवल ज्ञान है। जैसे 'केवल अन्न खाता है' यहां केवल शब्द असहाय अर्थ में अर्थात् शाक आदि रहित अन्न खाता है उसी तरह केवल अर्थात् क्षायोपशमिक आदि ज्ञानों की सहायता से रहित असहाय केवल ज्ञान है।[7] केवल का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ- अर्थीजन जिसके लिये बाह्य और आभ्यन्तर तप के द्वारा मार्ग का केवल अर्थात् सेवन करते हैं वह कैवल्य ज्ञान कहलाता है। अथवा केवल शब्द असहायवाची है, इसलिये असहाय ज्ञान को केवल ज्ञान कहते हैं।[8] इस ज्ञान की उपलब्धि तथा सांसारिक सुख-दुःख से अंतिम मुक्ति प्राप्त होने से वर्धमान अब अर्हत्, केवलिन और निर्ग्रंथ कहे जाने लगे। अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के कारण वे 'जिन' कहलाये और तपस्वी जीवन में अतुल पराक्रम और साहस प्रकट करने के कारण 'महावीर' कहलाये।

कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् महावीर तीस वर्ष तक एक स्थान से दूसरे स्थान भ्रमण करते रहे और कौसल, मगध, वैशाली तथा अन्य प्रदेशों में निरन्तर अपने उपदेशों और सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। अन्त में ईस्वी पूर्व 527 में आधुनिक पटना जिले में पावापुरी में मल्लराज हस्तिपाल के राजमहल में 72 वर्ष की आयु में महावीर का देहान्त हुआ।

यदि हम यह भी मानलें कि महावीर संस्थापक नहीं है तो भी वे जैनधर्म के प्रवर्तक तो हैं। यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि महावीर ने जैनधर्म को संवार कर एक नया रूप दिया तथा सर्वसाधारण में इसका प्रचार एवं प्रसार

किया। उन्होंने अपने युग में प्रचलित समाज व धर्म के दोषों के विरुद्ध आवाज उठाई। महावीर जैनधर्म के अंतिम और चौबीसवें तीर्थंकर हुए। वास्तव में जैनधर्म महावीर के समय से ही उभर कर सामने आया जिसके परिणाम स्वरूप जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों में हुआ।

अंतिम तीर्थंकर महावीर अपने साधनामय जीवन में एकान्त स्थानों में विचरण करते और ध्यान करते थे। उन्होंने बारह वर्ष साधनामय जीवन में व्यतीत किये थे। जिस समय वह उज्जयिनी के निकट अतिमुक्तक नामक श्मशान भूमि में आकर ध्यान मग्न हुए थे उस समय रुद्र नामक व्यक्ति ने उन पर घोर आक्रमण किया था, परन्तु वह अपने ध्यान में दृढ़ और निश्चल बने रहे। रुद्र की रौद्रता उनको तपस्या से विचलित न कर सकी।[9] पशुबल आत्मबल के समक्ष नतमस्तक हुआ। रुद्र इन्द्रियजमी महावीर के चरणों में गिरा और उसने उनका 'अतिवीर' नाम रखा। उज्जयिनी आत्मबल की महत्ता को अपने अंचल में छुपाये है आत्मवीर ही उसे देखते और गौरवान्वित होते हैं।

मालवा धर्म की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, वरन् भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व के मर्मज्ञ डॉ.भगवतशरणजी उपाध्याय के अनुसार मालवा का अन्तर्राष्ट्रीय मार्ग के रूप में भी विशिष्ट स्थान था और उज्जैन तो दक्षिण को उत्तर से जोड़ता था। डॉ.उपाध्यायजी दक्षिण भारत से उत्तर भारत के राष्ट्रीय मार्ग को स्पष्ट करते हुए उस मार्ग को अर्न्तराष्ट्रीय मार्ग, जो खैबर के दर्रे की ओर से जाता था, से जोड़ते हैं।[10] तो ऐसे मालवा में जो हर क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखता है, हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि जैनधर्म का प्रचार-प्रसार एवं विकास किस प्रकार हुआ?

चण्डप्रद्योत के जैनधर्मावलम्बी होने के विषय में त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र में उल्लेख मिलता है कि सिंधुसौवीर के राजा उदायन के पास भगवान महावीर की एक चन्दन निर्मित प्रतिमा थी जिसका उल्लेख जीवंतस्वामी के नाम से जैन साहित्य में मिलता है।

राजा उदायन एवं उसकी रानी प्रभावती सदैव उस प्रतिमा की पूजा किया करते थे। प्रभावती की मृत्यु के उपरांत इस प्रतिमा की पूजा दासी देवनन्दा या देवदत्ता किया करती थी। देवनंद चण्डप्रद्योत के प्रेम में पड़ गई। इस मूल प्रतिमा के स्थान पर दूसरी चन्दन की प्रतिमा रखकर चण्डप्रद्योत दासी देवनंद तथा प्रतिमा को उज्जैन ले आया। जब यह भेद उदायन पर प्रकट हुआ तो उसने उज्जैन पर आक्रमण कर दिया। चण्डप्रद्योत हारा और बन्दी बना लिया गया।

प्रतिमा एवं युद्धबन्दी को लेकर उदायन ने अपने देश के लिये प्रस्थान

किया। मार्ग में वर्षा प्रारंभ हो गई। जैन मतावलम्बी होने के कारण उदायन चातुर्मास हेतु वहीं रूक गया। पर्युषण पर्व के अवसर पर उदायन को उपवास था। चण्डप्रद्योत से भोजन के लिये पूछा गया तो उसने भी भोजन करने से इन्कार कर दिया। राजा उदायन ने चण्डप्रद्योत को अपना सहधर्मी समझकर छोड़ दिया और प्रतिमा भी दे गया। उदायन के चातुर्मास करने से एक नया नगर बस गया। जो शिवना नदी के तट पर आज भी दशपुर या मन्दसौर के नाम से विख्यात है। चण्डप्रद्योत ने इस स्थान पर मंदिर का निर्माण करवाया तथा उसके व्यय आदि की पूर्ति के लिये बारह सौ गांव दान में दिये। बाद में इस प्रतिमा का उल्लेख विदिशा में प्रतिष्ठित होने के सिलसिले में पाया जाता है। चण्डप्रद्योत ने ऐसी ही एक और जीवंतस्वामी की प्रतिमा बनवाई थी जिसकी प्रतिष्ठा उज्जैन में करवाई गई थी।

चण्डप्रद्योत की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र पालक सिंहासन पर बैठा दूसरा पुत्र गोपाल गणधर्म सुधर्मस्वामी से दीक्षा लेकर जैन साधु हो गया। मृच्छकटिक[11] से विदित होता है कि पालक को विस्तृत यज्ञ में पशु के समान मार दिया गया था। वैसे मृच्छकटिक एक महान् क्रांति की ओर संकेत करता है। राजा से असंतुष्ट प्रजा उसे समाप्त कर देती है तथा दूसरे अपने मन पसन्द व्यक्ति को राजा बना दिया जाता है। उस युग की यह महान् घटना है। पालक की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र अवंतिवर्धन् सिंहासन पर बैठा। अवंतिवर्धन् ने अपने भाई राष्ट्रवर्धन का वध किन्हीं कारणों से करवा दिया। राष्ट्रवर्धन की पत्नी धारिणी गर्भवती थी। वह कौशाम्बी चली गई और वहां जैन साध्वी हो गई। वहीं उसने एक बालक को जन्म दिया, जिसका पालन-पोषण कौशाम्बी के राजा अजितसेन ने किया। अजितसेन निःसन्तान था। बालक का नाम मणिप्रभ रखा गया। इधर अवंतिवर्धन ने अपने पाप का प्रायश्चित करने के लिये वीर संवत् 24 में जम्बूस्वामी के पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली।

अवंतिवर्धन के बाद उज्जैन की गद्दी पर राष्ट्रवर्धन का पुत्र अवंतिवर्धन तथा अजितसेन के बाद कौशाम्बी की गद्दी पर मणिप्रभ विराजमान हुए। कौशाम्बी और अवंति की पुरानी शत्रुता चली आ रही थी। अवंतिवर्धन ने कौशाम्बी पर आक्रमण कर उसे घेर लिया। दोनों राजा भाई भाई है, इस सम्बन्ध से अपरिचित थे। साध्वी माता धारिणी ने आकर दोनों भाइयों का परिचय करवाया, तब कहीं जाकर परम्परागत शत्रुता समाप्त हुई।

ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि उज्जैन और कौशाम्बी के मध्य वत्सिका नदी के किनारे गुफा में मुनि धर्मघोष जहां ध्यान धारण कर खड़े थे, वहां

अवंतिषेण ने एक स्तूप बनवाया था। वत्सिका नदी जिसे बैस नदी कहते हैं, सांची के पास आज भी विद्यमान है और सम्भव है कि अवंतिषेण के द्वारा बनवाया गया स्तूप नष्ट करके बौद्ध स्तूप बनवा दिया गया हो।[12]

मौर्यकालीन मालवा में जैन धर्म : सम्राट चन्द्रगुप्त के विषय में कहा जाता है कि वे अंतिम समय में जैनसाधु होकर दक्षिण चले गये थे। दक्षिण भारत की श्रमण बैलगोला की गुफा में जैनधर्म सम्बन्धी शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इनमें 'चन्द्रगुप्ति' नामक राजा का उल्लेख आता है जिसका सम्बन्ध विद्वानों ने चन्द्रगुप्त मौर्य से स्थापित किया है। चन्द्रगुप्त ने जैनधर्म की दीक्षा ली, उसका उल्लेख भद्रबाहुचरित में इस प्रकार है:-

अवंति देश में 'चन्द्रगुप्ति' नामक राजा राज करता था। उसकी राजधानी उज्जैन थी। एक बार राजा चन्द्रगुप्ति ने रात को सोते हुए भावी अनिष्ट फल के सूचक सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल होते ही उसको भद्रबाहु स्वामी के आगमन का समाचार मिला। भद्रबाहु स्वामी उज्जैन नगरी के बाहर एक सुन्दर बाग में ठहरे हुए थे। वनपाल ने जाकर राजा को सूचना दी कि गण के अग्रणि आचार्य भद्रबाहु अपने 'मुनि सन्दोह' के साथ पधारे हुए हैं। यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय भद्रबाहु को बुला भेजा और अपने स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नों का फल ज्ञात होने पर राजा चन्द्रगुप्ति ने जैनधर्म की दीक्षा ले ली और अपने गुरु भद्रबाहु की सेवा में दत्तचित्त तत्पर हो गया।

कुछ समय बाद आचार्य भद्रबाहु सेठ जिनदास के घर आये। इस घर में एक अकेला बालक पालने में झूल रहा था। यद्यपि इसकी आयु कुल साठ दिन की थी तथापित भद्रबाहु को देखकर 'जाओ जाओ' ऐसा वचन बोलना शुरू किया। इसे सुनते ही भद्रबाहु समझ गये कि शीघ्र ही बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। अतएव उन्होंने अपने 500 मुनियों को लेकर दक्षिण देश जाने का निश्चय किया। वहां जाकर उन्हें कुछ ही समय बाद यह मालूम हो गया कि उनकी आयु थोड़ी रह गई है। अतः वे अपने स्थान पर विशाखाचार्य को नियत कर स्वयं एकान्त स्थान पर रहकर अंतिम समय की प्रतीक्षा करने लगे। चन्द्रगुप्ति मुनि गुरु की सेवा में ही रहे। यद्यपि भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्ति को अपने पास रहने से बहुत मना किया, परन्तु उसने एक न मानी। एकान्त में रहते हुए गिरि गुहा में भद्रबाहु ने प्राण त्याग दिये। इसके बाद मुनि चन्द्रगुप्ति इसी गुरु गुहा में निवास करने लगे।

इसी कथा से मिलती जुलती कथा आराधना कथाकोश एवं पुण्याश्रव कथाकोश में भी पाई जाती है। इस कथा में और श्रमण बैलगोला शिलालेखों में

मिलने वाले चन्द्रगुप्ति के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। श्री सत्यकेतु विद्यालंकार चन्द्रगुप्ति को प्रथम मौर्य सम्राट न मानकर अशोक का पौत्र और कुणाल का पुत्र मानते हैं जो इतिहास में सम्प्रति के नाम से विख्यात है।[13] कुणाल के समय विदिशा जैनियों का केन्द्र था।[14]

द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष तथा मुनियों के जाने की कथा अन्यान्य ऐतिहासिक तथ्यों से प्रमाणिक सिद्ध होती है।[15] तब यह भी प्रमाणित हो जाता है कि इस समय मालवा में जैनधर्म अच्छी अवस्था में था तथा निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा था। साथ ही जैनधर्म का इस समय पूर्व में अंग मगध, दक्षिण में कौशाम्बी, पश्चिम में गुजरात तथा उत्तर में कर्नाल तक प्रसार हो रहा था।[16] साथ ही उज्जयिनी के आसपास वाले प्रदेशों में जैनधर्म का दृढ़ प्रभाव था।[17]

अशोक की मृत्यु के उपरांत मौर्य साम्राज्य दो भागों में बंट गया था।[18] पूर्वी राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र थी और वहां दशरथ राज कर रहा था। पश्चिमी राज्य की राजधानी उज्जयिनी थी और वहां सम्प्रति का राज था।[19] सम्प्रति का जैन साहित्य में बहुत ऊंचा स्थान है। जैन अनुश्रुति के अनुसार सम्राट सम्प्रति जैनधर्म का अनुयायी था और उसने अपने प्रियधर्म को फैलाने के लिये बहुत प्रयत्न किया था। परिशिष्ट पर्व में लिखा है कि रात्रि के समय सम्प्रति को यह विचार उत्पन्न हुआ कि अनार्य देशों में भी जैनधर्म का प्रचार हो और जैन साधु स्वछन्द रीति से विचर सके। इसके लिये उसने इन देशों में जैन साधुओं को धर्म प्रचार के लिये भेजा। साधु लोगों ने राजकीय प्रभाव से शीघ्र ही जनता को जैनधर्म और आचार का अनुगामी बना लिया। इस काल के लिये सम्प्रति ने बहुत से लोकोपकारी कार्य भी किये। गरीबों को मुफ्त भोजन बांटने के लिये अनेक दानशालाएं खुलवाई। अनेक जैन ग्रन्थों में लिखा है कि धर्म प्रचार के लिये सम्प्रति ने अपनी सेना के योद्धाओं को साधुओं का वेश बनाकर प्रचार के लिये भेजा था।[20] युगपुराण के अनुसार जब सम्प्रति तलवार के बल पर लोगों को जैनधर्म में दीक्षित कर रहा था उस समय दिमित ने सम्प्रति से जनता की रक्षा की इससे जनता ने दिमित को धर्ममीत (धर्ममीत - देमित्रियस) कहा।[21]

शक कुषाण युगीन मालवा में जैनधर्म : इस समय भी मालवा में जैनधर्म पर्याप्त उन्नतावस्था में था। इसका आभास हमें कालकाचार्य कथानक से मिलता है। आचार्य कालक ने शकों को अवंति पर आक्रमण करने के लिये आमंत्रित किया था जिसका एक मात्र कारण यह था कि अवंति नरेश गर्दभिल्ल ने आचार्य कालक की भगिनी जैन साध्वी सरस्वती का बलात् अपहरण कर लिया था। सभी प्रयत्नों के बावजूद जब गर्दभिल्ल ने सरस्वती को मुक्त नहीं किया तो बाध्य

होकर आचार्य कालक ने शकों को आमंत्रित किया कि वे गर्दभिल्ल के दर्प को चूर्ण कर दें। युद्धोपरांत मालवा में शकों का राज्य हो गया था।

इस घटना में जनता का भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कालकाचार्य को सहयोग रहा ही होगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस काल जैनधर्म की स्थिति उत्तम रही होगी।

इस युग में अनेक युगप्रधान जैनाचार्य भी हो चुके हैं जिनमें भद्रगुप्ताचार्य, आर्य वज्र तथा आर्य रक्षितसूरि के नाम गिनाये जा सकते हैं। आगम साहित्य को आर्य रक्षितसूरि ने चार भागों में विभक्त करके जैनधर्म की दृष्टि से इस युग के ऐतिहासिक महत्त्व को और भी बढ़ा दिया था।

यद्यपि मालवा में इस युग का कोई पुरातात्विक अवशेष अद्यावधि प्राप्त नहीं हुआ है, तथापित मथुरा क्षेत्र में इस युग की प्रतिमाएं तथा प्रतिमा लेख प्राप्त हुए हैं जिससे भी हम यह अनुमान कर सकते हैं कि इस काल जैनधर्म उन्नतावस्था में था।

गुप्तकालीन मालवा में जैनधर्म : भारतीय इतिहास में गुप्तकाल स्वर्णयुग के नाम से चिरपरिचित है। यह युग सर्वांगीण विकास का था। गुप्त राजा वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त तीनों के सिक्कों पर 'परमभागवत' खुदा होना गुप्तों की उस धर्म में विशेष निष्ठा सूचित करता है।[22] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य धर्मों की स्थिति नगण्य थी अथवा कि राजा दूसरे धर्मों का आदर नहीं करते थे। गुप्त राजा सभी धर्मों को समान आदर की दृष्टि से देखते थे। इसका प्रमाण यह है कि इस काल लगभग सभी धर्मों के अच्छी स्थिति में होने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

मालवा में जैनधर्म के लिये यह युग अपना विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि इसी युग में जैनधर्म से सम्बन्धित पुरातात्विक सामग्री मिलना प्रारंभ होती है। इतिहास प्रसिद्ध नगर विदिशा के पास उदयगिरि की पहाड़ी में बीस गुफाएं हैं, जो इसी युग की हैं। इनमें से क्रम से प्रथम एवं बीसवें नम्बर की गुफाएं जैनधर्म से सम्बन्धित हैं। पहले नम्बर की गुफा में एक लेख खुदा हुआ है जिससे सिद्ध होता है कि यह गुफा गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल की है।[23] बीसवें नम्बर की गुफा में भी एक पद्यात्मक ..... लेख खुदा हुआ है जिसके अनुसार इस मूर्ति की प्रतिष्ठा गुप्त संवत 106 (ई.सन् 426 कुमारगुप्त का काल) में कार्तिक कृष्ण पंचमी को आचार्य भद्रान्वयी आचार्य गौशर्म मुनि के शिष्य शंकर द्वारा की गई थी। इस शंकर ने अपना जन्म स्थान उत्तर भारतवर्ती कुरु देश बतलाया है।[24] मूल लेख इस प्रकार है।[25]

(1) नमः सिद्धेभ्यः (II) श्री संयुतानां गुणतांयधीनां गुप्तान्वयानां नृपसक्ष्मानाम।

(2) राज्ये कुलस्याधि विवर्द्धमाने षडभियुतैवर्षशतेथमासे (II) सुकार्तिके बहुल दिनैथ पचमे।

(3) गुहामुखे स्फट विकटोत्चटामिमां जिताद्विषां जिनकर पार्श्वसंज्ञिका, जिनाकृति शम-दमवान।

(4) चीकरत (II) आचार्यभद्रान्वय भूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्य्य कुलो द्वतस्य, आचार्य गोश।

(5) र्म्म मुनैस्षुतस्तु पद्मावताश्वपतेर्भटस्य (II) परे रंजयस्य रिपुघ्न मानिनस्ससंघिल।

(6) स्यैतित्यभिविश्रुतो भुवि स्वसंज्ञया शंकर नाम शव्दितो विधान युक्तं यतिमार्गमस्थितः (II)।

(7) सउत्तराणां सद्शे कुरुणां उद्ग दिशा देशवरे प्रसूतः।

(8) क्षयाय कर्म्मारि गणस्य श्वीमान् यदत्र पुण्यं तद पास-सज्जां (II)।

अर्थात् 'सिद्धों' के नमस्कार श्री संयुक्त गुण समुद्र गुप्तान्वय के श्रेष्ठ राजाओं के वर्द्धमान राज्य शासन के 106 वे वर्ष और कार्तिक महिने की कृष्ण पंचमी के दिन गुहा द्वार में विस्तृत सर्पफण से युक्त शत्रुओं को जीतने वाले जिन श्रेष्ठ पार्श्वनाथ जिनकी मूर्ति शम-द्मवान शंकर ने बनवाई जो आचार्य भद्र के अन्वय का भूषण और आर्य कुलोत्पन्न गौशर्म मुनि का शिष्य तथा दूसरों द्वारा अजेय रिपुघ्न मानी अश्वपति भट्ट संघिल और पद्मावती के पुत्र शंकर इस नाम से लोक में विश्रुत तथा शास्त्रोक्त यतिमार्ग में स्थित था और वह उत्तर कुरुवों के सदृश उत्तर दिशा के श्रेष्ठ देश में उत्पन्न हुआ था, उसके इस पावन कार्य में जो पुण्य हुआ हो वह सब कर्मरूपी शत्रु समूह के क्षय के लिये हो। अभिलेख में वर्णित आचार्य भद्र और उनके अन्वय के प्रसिद्ध मुनि गौशर्म के विषय में अभी कुछ भी ज्ञात नहीं है फिर भी इतना इनके विषय में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये युगप्रधान आचार्य थे।

इस युग की जैनधर्म सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि अभी हाल में हुई है। प्रो.कृष्णदत्त वाजपेयी ने अपने एक लेख 'रामगुप्त के शिलालेखों की प्राप्ति'[26] में विदिशा के समीप बैस नदी के तटवर्ती एक टीले की खुदाई करते समय प्राप्त गुप्तकालीन जैन तीर्थंकरों की दुर्लभ तीन प्रतिमाओं पर प्रकाश डाला है। ये तीनों प्रतिमाएं बलुए पत्थर की बनी है। इन तीनों की चरण चौकियों पर गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि तथा संस्कृत भाषा में लेख उत्कीर्ण थे। एक मूर्ति का लेख तो पूर्णतः नष्ट हो चुका है। दूसरी मूर्ति का लेख आधा बचा है और तीसरी का लेख पूरा

सुरक्षित है। इसके आधार पर प्रो.वाजपेयी ने गुप्तकालीन एक विवादास्पद समस्या पर नवीन प्रकाश डाला है। समस्या गुप्त नरेश रामगुप्त की ऐतिहासिकता की है। इस गुप्त नरेश का उल्लेख साहित्य में तो मिलता है तथा इसके ताम्बे के सिक्के भी बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं। स्वयं प्रो.वाजपेयी ने इस नरेश के सिक्कों पर विस्तार से प्रकाश डाला है, किन्तु अभी तक कोई भी ऐसा अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ था जिसमें कि रामगुप्त को गुप्त नरेश के रूप में वर्णित किया गया हो। इन मूर्तियों के अभिलेखों के आधार पर इन मूर्तियों का निर्माण 'महाराजाधिराज' श्री रामगुप्त के शासनकाल में हुआ। इन प्रतिमाओं के सम्बन्ध में प्रो.वाजपेयी ने लिखा है कि एक प्रतिमा पर आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का और दूसरी पर नवें तीर्थंकर पुष्पदन्त का नाम लिखा है। मूर्तियों की निर्माण शैली ईस्वी चौथी शती के अंतिम चतुर्थांश की कहीं जा सकती है। इन मूर्तियों में कुषाणकालीन तथा ई.पांचवी शती की गुप्तकालीन मूर्तिकला के बीच युग के लक्षण दृष्टव्य है। मथुरा आदि से प्राप्त कुषाण कालीन बौद्ध और तीर्थंकर प्रतिमाओं की चरण चौकियों पर सिंहो जैसा अंकन प्राप्त होता है वैसा इन मूर्तियो पर लक्षित है। प्रतिमाओं का अंग विन्यास तथा सिरों के पीछे अवशिष्ट प्रभामण्डल भी अंतरिम काल के लक्षणों से युक्त हैं। इनमें उत्तर गुप्तकालीन अलंकरण का अभाव है।

लिपि विज्ञान की दृष्टि से भी ये प्रतिमा लेख ईस्वी चौथी शती के ठहरते हैं। इन लेखों की लिपि गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उन लेखों से मिलती है जो सांची और उदयगिरि की गुफाओं में मिले हैं।

इन तीर्थंकर प्रतिमाओं के आधार पर प्रो.कृष्णदत्त वाजपेयी ने विवादास्पद गुप्त नरेश रामगुप्त पर पर्याप्त प्रकाश डालकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि समुद्रगुप्त के पश्चात् रामगुप्त सम्राट हुआ था। किन्तु अभी इस मत को मान्यता नहीं मिली है साथ ही अभी यह भी निराकरण होना शेष है कि इन प्रतिमाओं के लेखों में उल्लिखित वही रामगुप्त है अथवा कोई अन्य।

इसके अतिरिक्त इस काल की एक और दूसरी उपलब्धि है जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर। जैनग्रन्थों में इन्हें साहित्यिक एवं काव्यकार के अतिरिक्त नैयायिक और तर्कशास्त्रज्ञों में प्रमुख माना है। सिद्धसेन दिवाकर का जैन इतिहा में बहुत ऊंचा स्थान है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय उनके प्रति एक ही भाव से श्रद्धा रखते हैं। किंवदंती है कि एक बार राजा चन्द्रगुप्त ने इनसे कल्याण मंदिर स्तोत्र का पाठ करने का आग्रह किया। राजा के आग्रह पर इन्होंने कल्याण मंदिर स्तोत्र का पाठ किया। पाठ समाप्त होते ही उज्जयिनी के महाकाल मंदिर में शिवलिंग फट गया और उसके मध्य से पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल आई।[27]

सिद्धसेन दिवाकर ने इसके अतिरिक्त और भी ग्रन्थों की रचना की जिनका विशिष्ट स्थान है।

इस युग में जैनधर्म भारत के अन्य भागों में भी अपना प्रभाव जमा रहा था यद्यपि अपने मूल स्थान मगध में इसके प्रभाव में कमी आ रही थी।[28]

राजपूतकालीन मालवा में जैनधर्म : यदि गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल है, तो राजपूत काल मालवा में जैनधर्म के विकास तथा समृद्धि के दृष्टिकोण से स्वर्णकाल रहा है। इस युग में कई जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। इसके प्रारम्भिक काल में बदनावर में जैन मंदिर विद्यमान थे। इसका विवरण डॉ.हीरालाल जैन इस प्रकार देते हैं- जैन हरिवंश पुराण की प्रशस्ति में इसके कर्त्ता जिनसेनाचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि शक संवत् 705 (ई.सन् 783) में उन्होंने वर्धमानपुर के पार्श्वालय (पार्श्वनाथ के मंदिर) की अन्नराजवसति में बैठकर हरिवंशपुराण की रचना की और उसका जो भाग शेष रहा उसे वहीं के शांतिनाथ मंदिर में बैठकर पूरा किया। उस समय उत्तर में 'इन्द्रायुद्ध', दक्षिण में कृष्ण के पुत्र श्री वल्लभ व पश्चिम में वत्सराज तथा सौर मंडल में वीर वराह नामक राजाओं का राज था। यह वर्धमानपुर सौराष्ट्र का वर्तमान बढ़वान माना जाता है। किन्तु मैंने अपने लेख में सिद्ध किया है कि हरिवंशपुराण में उल्लिखित वर्धमानपुर मध्यप्रदेश के धार जिले में बदनावर है, जिससे 10 मील की दूरी पर दोस्तरिन्का होना चाहिये, जहां की प्रजा ने जिनसेन के उल्लेखानुसार उस शांतिनाथ मंदिर में विशेष पूजा अर्चना का उत्सव किया था। इस प्रकार वर्धमानपुर में आठवीं शती में पार्श्वनाथ और शांतिनाथ के दो जैन मंदिरों का होना सिद्ध होता है। शांतिनाथ मंदिर 400 वर्ष तक विद्यमान रहा। इसके प्रमाण हमें बदनावर से प्राप्त अच्छुप्तादेवी की मूर्ति पर के लेख से प्राप्त होते हैं, क्योंकि उसमें कहा गया है कि संवत् 1229 (ई.सन् 1179) की वैशाख कृष्ण पंचमी को वह मूर्ति वर्धमानपुर के शांतिनार्थ चैत्यालय में स्थापित की गई।[29]

विदिशा क्षेत्र में भी जैनधर्म इस युग में उन्नतावस्था में था जिसका प्रमाण है वहां उपलब्ध जैन मंदिर व मूर्तियां। ग्यारसपुर नामक स्थान पर जैन मंदिर के भग्नावशेष मिले हैं। मालवा में जैन मंदिरों के जितने भग्नावशेष मिले हैं, उनमें प्राचीनतम अवशेष यही पर है जो विन्यास एवं स्तम्भों की रचना शैली में खजुराहों के समान हैं। फर्गुसन ने इनका निर्माण काल 10वीं सदी के मध्य निर्धारित किया है।[30] इस काल के और भी अनके अवशेष इस क्षेत्र में मिले हैं। साथ ही यदि इन सब अवशेषों का विधिवत् संकलन एवं अध्ययन किया जाय तो जैन वास्तुकला के एक दीर्घ रिक्त स्थान की पूर्ति हो सकती है।[31]

राजपूतकालीन खजुराहो शैली के कुछ जैन मंदिर खरगोन जिले के ऊन नामक स्थान में मिले हैं। इन मंदिरों की उपलब्धि से यह प्रमाणित होता है कि इस समय इस क्षेत्र में जैनधर्म अपनी उन्नति के शिखर पर था। ऊन में वैसे दो (1) हिन्दू और (2) जैन मंदिरों के समूह प्राप्त हुए हैं, जो कला की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। यहां बहुत बड़ी मात्रा में जैन मूर्तियां भी मिली हैं जिन पर वि.सं.1182 या 1192 के लेख अंकित हैं जिससे यह विदित होता है कि यह मूर्ति आचार्य रत्नकीर्ति द्वारा निर्मित की गई थी।[32]

यहां के मंदिर पूर्णतः पाषाण खण्डों से निर्मित हैं, चिपटी छत व गर्भगृह, सभामण्डप युक्त तथा प्रदक्षिणा भूमि रहित है जिससे इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। भित्तियों और स्तम्भों पर सर्वांग उत्कीर्णन है, जो खजुराहों की कला से समानता रखता है।[33]

11वीं सदी के जैन मंदिरों के कुछ अवशेष नरसिंहगढ़ जिला राजगढ़ (ब्यावरा) से 7 मील दक्षिण में विहार नामक स्थान पर भी प्राप्त हुए हैं। यहां पर जैन मंदिरो के साथ ही हिन्दू, बौद्ध व इस्लाम धर्म के अवशेष भी मिले हैं। इसके अतिरिक्त डॉ.एच.वी.त्रिवेदी ने निम्नांकित स्थानों पर राजपूतकालीन जैन मंदिरों के प्राप्ति की सूचना दी है:-

(1) बीजवाड़ा जिला देवास (2) बीथला जिला गुना (3) बोरी जिला झाबुआ (4) छपेरा जिला राजगढ़ (ब्यावरा) (5) गुरिला का पहाड़ जिला गुना (6) कड़ोद जिला धार तथा (7) पुरा गुलाना जिला मन्दसौर एवं (8) वईखेड़ा जिला मन्दसौर यह स्थान श्वेताम्बरों का तीर्थ स्थान भी है। यहां चित्तौड़ की चौबीसी के मुख्य मंदिर के द्वार के स्तम्भों की कला से मिलती जुलती कला विद्यमान है। चित्तौड़ की चौबीसी के मुख्य मंदिर का काल 10वीं 11वीं शताब्दी है और यही समय वहां के द्वार स्तम्भों का भी है। वहीं पारसनाथ तीर्थ के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि यहां जो प्रतिमा है वह पहले एक बिम्ब में थी। एक सेठ की गाय जंगल में चरने के लिये आती थी। उस गाय का दूध प्रतिमा पी लेती थी। सेठ व उसके परिवार वाले आश्चर्य करते थे कि गाय का दूध कहां जाता है? एक बार सेठ को स्वप्न हुआ कि पार्श्वनाथ का यहां मंदिर बनवाकर प्रतिष्ठा करवाओ। इस पर उस सेठ ने वईखेड़ा ग्राम में उक्त मंदिर बनवाया और बड़ी धूमधाम से प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई। यहां के मंदिर सभामण्डप चित्रांकित है। इस काल में इतने मंदिरों की प्राप्ति ही इस बात को प्रमाणित कर देती है कि जैनधर्म इस समय में अपनी श्रेष्ठ स्थिति में रहा होगा। धार में भी इससमय के अनेक मंदिरों का उल्लेख मिलता है।

जिस प्रकार इस युग में अनेक जैन मंदिरों के निर्माण के उल्लेख के साथ

ही साथ उनके अवशेष मिलते हैं, ठीक उसी प्रकार इस युग में अनेक जैन विद्वान् भी हो चुके हैं उन्होंने अपनी विद्वता से परमार काल के गौरव को बढ़ाया है, उनमें से आचार्य देवसेन, आचार्य महासेन, अमितगति जिनसेनाचार्य, माणिक्यनंदी नयनंदी, प्रभाचन्द्र, आशाधर, श्रीचन्द्र, कवि धनपाल तथा कवि दामोदर आदि प्रसिद्ध हैं। परमारकालिन जैनधर्म तथा सारस्वती के दृष्टिकोण से डॉ.ज्योतिप्रसाद जैन[34] का कथन है कि मुंज के सम्बन्ध में प्रबन्ध चिंतामणि आदि जैन ग्रन्थों में अनेक कथायें मिलती हैं। नवसाहसांक चरित के लेखक पद्मगुप्त, दशरूपक के लेखक धनंजय, उसके भाई धनिक जैन कवि धनपाल आदि अनेक कवियों का वह आश्रय-दाता था। जैनाचार्य महासेन और अमितगति का यह राजा बहुत सम्मान करता था। इन जैनाचार्यों ने उसके प्रश्रय में अनेक ग्रन्थों की रचना की। मुंज स्वयं जैनी था या नहीं यह नहीं कहा जा सकता किन्तु वह जैनधर्म का प्रबल पोषक था, इसमें संदेह नहीं है। उसका उत्तराधिकारी और भाई सिंधुल या सिंधुराज कुमारनारायण नवसाहसांक (996-1006 ई.) भी जैनधर्म का पोषक था। प्रद्युम्नचरित के कर्त्ता मुनि महासेन का गुरुवत पोषक था। अभिनव कालिदास कवि परिमल का नवसाहसांक चरित्र इसी राजा की प्रशंसा में लिखा गया है।

मुंज का भतीजा और सिन्धुल का पुत्र भोज (1010-1053 ई.) भारतीय लोक कथाओं में प्राचीन विक्रमादित्य की भांति ही प्रसिद्ध है। भोज भी जैनधर्म का पोषक था। उसके समय में धारा नगरी दिगम्बर जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र थी और राजा जैन विद्वानों एवं मुनियों का बड़ा आदर करता था। सरस्वती विद्या मंदिर के नाम से उसने एक विशाल विद्यापीठ की स्थापना की थी। उसने जैन मंदिरों का भी निर्माण करवाया बताया जाता है। ऊपर बताये गये विद्वानों में से अनेक दिग्गज जैनाचार्यों ने आश्रय एवं समान प्राप्त किया था। आचार्य शांतिसेन ने उसकी राजसभा में अनेक अजैन विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। भोज का सेनापति गुलचंद्र भी जैन था। धनंजय, धनपाल, धनि आदि गृहस्थ जैन कवियों ने उसके आश्रय में काव्य साधना की थी। भोज के उपरांत जयसिंह प्रथम (1053-60 ई.) राजा हुआ। उसके उत्तराधिकारी निर्बल रहे। उनमें नरवर्मनदेव (1104-1107 ई.) महान् यौद्धा और जैनधर्म का अनुरागी थी। उज्जैन महाकाल मंदिर में जैनाचार्य रत्नदेव का शैवाचार्य विद्या शिववादी के साथ शास्त्रार्थ उसी समय हुआ। इस राजा ने जैन गुरु समुदघोष और वल्लभसूरि का भी सम्मान किया था। उसके पुत्र यशोवर्मदेव ने भी जैनधर्म और जैन गुरुओं का आदर किया। जिनचंद्र नामक एक जैनी को उसने गुजरात प्रान्त का शासक नियुक्त किया था। 12वीं 13वीं शताब्दी में धारा के परमार नरेश विन्ध्यवर्मा और उसके

उत्तराधिकारियों में सुभटवर्मा, अर्जुनवर्मा, देवपाल और जैतुंगदेव ने पं.आशाधर आदि जैन विद्वानों का आदर किया था।

रत्नमुण्डनगणिकृत झांझण प्रबंध और पृथ्वीधरचरित्र तथा उपदेश तरंगिणी से ज्ञात होता है कि परमार राजा जयसिंह देव तृतीय (ई.सन् 1261-80) के मंत्री पेथड़कुमार ने मांडव में 300 जैन मंदिरों का जीर्णोद्धार किया और उन पर सोने के कलश चढ़वाए थे। इसी प्रकार अठारह लाख रुपये की लागत का 'शत्रुंजयावतार' नाम का विशाल मंदिर बनवाया था। पेथड़ के पुत्र झांझण ने मांडव में बहुत-सी धर्मशालाएं स्थान-स्थान पर बनवाई और एक बहुत विशाल ग्रंथालय स्थापित किया था। 700 मंदिरों की संख्या केवल जैन श्वेताम्बरियों की थी। चांदाशा नाम के धनी व्यापारी ने 72 जिन देवालय और 36 दीपस्तंभ मांडव नगर में बनवाए थे। धनकुबेर श्रीमाल भूपाल लघुशान्तिचन्द्र जावड़शा ने ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के सोंधशिखरी पांच जिन देवालय बनवाए और उनमें एक ग्यारह सेर सोने की तथा दूसरी बाईस सेर चांदी की और शेष पाषण की जिन प्रतिमाएं साधु रत्नसूरि की आज्ञा से स्थापना कराई थी। इस उत्सव में 19 लाख रुपये व्यय किये। एक लाख रुपये तो केवल मुनि के मांडव नगर प्रवेश के समय व्यय किये थे। इस प्रकार और भी प्रमाण इस बात की पुष्टि करने वाले मिलते हैं कि ई.सन् 1390 यानि मुसलमानों के आने तक परमार राजाओं की सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में मांडव एक समृद्ध नगर था, जिसका विध्वंस बाद में मुसलमानी शासनकाल में हुआ और सदियों के बने हुए देवालयों तथा अन्य इमारतों की सामग्री का रूपान्तरित करने यावनी तक्षणकला की तर्ज पर मौजूदा आलीशान इमारतें मुसलमानी समय में निर्माण हुई जिससे हिन्दू राजत्व काल की एक भी इमारत जमीन के ऊपर अभग्न न रही।[35]

समग्र रूप से यदि जैनधर्म के ऐतिहासिक महत्त्व का मूल्यांकन किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर मालवा में जैनधर्म का अस्तित्व भगवान महावीर के समय से है। किन्तु ये साहित्यिक साक्ष्य पर्याप्त बाद के हैं जिन पर एकदम पूर्ण रूप से विश्वास नहीं किया जा सकता। पुरातात्विक दृष्टि से देखने से पता चलता है कि गुप्त-काल से मालवा में जैनधर्म से संबंधित अवशेष मिलना प्रारंभ होते हैं और उन अवशेषों के आधार पर तत्कालीन जैन समाज की प्रतिष्ठा पर प्रकाश पड़ता है। राजपूत काल में जैनधर्म अपनी सर्वांगणी उन्नतावस्था को प्राप्त हो रहा था व न केवल मंदिरों का ही निर्माण हुआ वरन् साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक विद्वान् हुए जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकार मालवा में जैनधर्म का क्रमिक विकास हुआ।

संदर्भ सूची

1 ऐसा केवल जैनधर्मावलम्बियों का विश्वास है।
2 10-136
3 10-166-1
4 11-5-124-26
5 पूर्व 2-8
6 5-28
7 तत्वार्थवार्तिक, पृष्ठ 294
8 सर्वार्थसिद्ध, पृष्ठ 94
9 उज्जयिन्यामथान्येद्युस्तच्छ्मशानेऽति-मुक्तके वर्द्धमानां महासत्वं प्रतिमा-योगधारिणम्। 339/74 उत्तरपुराण
10 विक्रम कीर्तिमंदिर स्मारिक, पृष्ठ 34-35
11 10-52
12 जैनतीर्थसर्वसंग्रह, भाग 2, पृष्ठ 310
13 मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृष्ठ 425
14 खण्डहरों का वैभव - मुनि कांतिसागर, पृष्ठ 153
15 The Age of Imperial Unity, Vo.II, Page 417.
16 Ibid, Page 417.
17 वही, पृष्ठ 418
18 Asoka - V-A-Smith, Page 70.
19 मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृष्ठ 653
20 Age of Imperial Unity, Page 418.
21 विक्रम स्मृति ग्रंथ, पृष्ठा 21, डॉ. भगवतशरण उपाध्याय का निबन्ध "विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास"
22 गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ 321
23 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 311
24 वही, पृष्ठ 311
25 अनेकांत वर्ष 19/1-4, पृष्ठ 68
26 साप्ताहिक हिन्दुस्तान 1960, मार्च 30
27 संस्कृत केन्द्र उज्जयिनी, पृष्ठ 117
28 The Classical Age] Vol.III, Page 403-404
29 भारतीय संस्कृत में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 332-333
30 History of Indian and Eastern Architecture, Vol.II, Page 55.
31 Ibid, Page 55.
32 Progress Report of Archaelogical Survey of India V.C. 1919, Page 61
33 वही, पृष्ठ 331, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, 331
34 भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृष्ठ 167 से 169
35 विक्रम स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 598-99

अध्याय - 3

जैनधर्म में भेद-उपभेद

जैनधर्म के भेद-उपभेद : भारत के अन्य धर्मों के समान ही जैनधर्म के भी भेद-उपभेद हैं। ये वैचारिक मतभेदों के ही परिणाम हैं। जिस प्रकार बीज अंकुरित होते समय एक ही दिखाई देता है, किन्तु वृक्ष हो जाने पर उसी में शाखाएं-प्रशाखाएं फूट जाती है यद्यपि मूल रूप में सभी शाखाओं के फल एवं फूल समान ही होते हैं, ठीक उसी प्रकार जैनधर्म भी अंकुरित होकर भेदों-उपभेदों से समृद्ध हुआ है। समय के प्रवाह के साथ जैनधर्म में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई तथा उसके सिद्धान्तों एवं आचार आदि के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न होते गये। जो व्यक्ति अपने मत को नयी दृष्टि देता, उसका प्रबलता से समर्थन करता था वह अपनी क्षमता के अनुसार अपने सिद्धान्त का प्रचार करता। या तो वह नया वाद या संघ चलाता या विपरीत सिद्धान्त के प्रति नतमस्तक हो जाता। किन्तु इस प्रकार के मतभदों से किसी भी धर्म अथवा समाज को लाभ नहीं होता, इसलिये जैनधर्म को भी इन विवादों से हानि उठानी पड़ी।

महावीर के समय में मत वैभिन्न : जैनधर्म के ये विवाद या भेद वर्तमान में उत्पन्न हुए हों, ऐसी बात नहीं है। स्वयं भगवान् महावीर के समय में भी पार्श्वनाथ के मत को मानने वाले थे जो चातुर्याम धर्म में विश्वास रखते थे और जिसमें भगवान् महावीर ने सदाचार, ब्रह्मचर्य, पवित्रता, नम्रता, परिमार्जन आदि की प्रतिज्ञाएं और सम्मिलित कर दी थीं। भगवान् महावीर के समय में ही तीन श्रमण संस्थाएं निम्नानुसार बन गयी थीं:-

(1) भगवान महावीर की परम्परा के श्रमण संघ के, प्रधानाचार्य श्री कैशीस्वामी थे। इन्होंने श्री इन्द्रभूति गौतम गणधर के साथ विचार-विमर्श कर महावीर स्वामी के मत को स्वीकार कर लिया था। इनकी शिष्य परम्परा आज भी 'पार्श्वनाथ संतानीय' उपकेशगच्छ और 'कवलागच्छ' के नाम से प्रसिद्ध है, ऐसी श्वेताम्बर परम्परा है।

(2) भगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष प्राप्ति के उपरांत कुछ साधुओं ने पांचवें गणधर श्री सुधर्मस्वामी का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। ये श्रीसुधर्म गणधर की परम्परा के श्वेताम्बर साधु आज भी विद्यमान हैं। इनके 84 गच्छ थे। तपगच्छ उसी परम्परा का एक अंग है।

(3) तीसरी संस्था 'आजीविक मत' वालों की थी जिसका नेतृत्व मक्खलीपुत्त गोषाल के हाथ में था। इस संस्था में साधु नग्नावस्था में रहते थे, इसलिये ऐसी व्यवस्था थी कि ये एकांत में रहें। किन्तु जब मक्खलीपुत्त गोषाल की मृत्यु हो गई तब ये आजीविक पुनः भगवान् महावीर के शासन में सम्मिलित हो गये। विस्तृत अध्ययन के लिये डॉ.ए.एल.बाथम की पुस्तक आजीविकाज दृष्टव्य है।

श्वेताम्बर व दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव : मालवा में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के अनुयायी प्रचुर मात्रा में निवास करते हैं। इन दोनों सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव ई.सन् 76 या 82 में हुआ।[2] दोनों सम्प्रदाय विभक्ति के अपने-अपने कारण बताते हैं। श्वेताम्बर मतावलम्बी दिगम्बर मतावलम्बियों की उत्पत्ति के लिये निम्नांकित स्पष्टीकरण देते हैं।[3]

शिवभूति नामक एक साधु को रथवीरपुर के राजा द्वारा एक मूल्यवान कम्बल भेंट में दिया गया था। इस कम्बल के प्रति शिवभूति को अत्यधिक मोह हो गया। उसके गुरु को जब इस घटना की जानकारी मिली तो, उन्होंने शिवभूति को आदश दिया कि वह कम्बल के टुकड़े करदे किन्तु शिवभूति ने कम्बल के टुकड़े करने से इन्कार कर दिया तथा क्रोधावस्था में वह वहां से दूर भाग गया और उसने दिगम्बर मत को जन्म दिया। भगवान महावीर के 609 वर्ष पश्चात् शिवभूति नामक व्यक्ति ने रथवीरपुर में 'बोडीय' नामक सम्प्रदाय को जन्म दिया था।[4]

डॉ.एस.बी.देव[5] ने इसी घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है:-

शिवभूति ने अपने राजा के लिये अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी तथा राजा ने उसके प्रति काफी सम्मान भी प्रकट किया था। स्वाभाविक रूप से शिवभूति अपने घर रात्रि को देर से जाने लगा। उसी प्रकार एक दिन जब उसकी पत्नी ने शिवभूति की माँ से उसके रात्रि को देर से आने की शिकायत की तो शिवभूति की माँ ने उसके देर से आने पर कहा कि तुम अब वहीं जाओ जहां तुम्हारे लिये द्वार खुले हों। शिवभूति उत्तर सुनकर वापस चल दिया और एक आश्रम में जा पहुंचा।

शिवभूति ने आश्रम के प्रधानाचार्य से दीक्षा मांगी। किन्तु प्रधानाचार्य ने दीक्षा देने से इन्कार कर दिया। इस पर शिवभूति ने स्वयं अपने हाथों केश लुंचन कर साधु के वेश में रहना प्रारंभ कर दिया। कुछ समय उपरांत यह स्वयं दीक्षित

साधु शिवभूति उसी स्थान पर आया। वहां के राजा ने, जो शिवभूति का मित्र था, एक मूल्यवान परिधान उसे भेंट में दी।

शिवभूति से जो वरिष्ठ साधु थे उन्होंने शिवभूति को उस परिधान का उपयोग करने के लिये मना किया, किन्तु शिवभूति ने उनकी एक न सुनी। तब साधुओं ने उस परिधान को फाड़ डाला। उससे क्रुद्ध होकर शिवभूति ने सब वस्त्र त्याग दिये और नग्न ही चल दिया। शिवभूति की बहिन उत्तरा ने भी उसका अनुसरण किया तथा वह भी नगर होकर अपने भाई के साथ होली। स्त्री की नग्नावस्था की शिकायत होने पर शहर के सभासदों ने कहा कि कोई व्यक्ति स्त्री का यह भद्दा, बेडोल स्वरूप देखने नहीं जावे। इस पर शिवभूति ने अपनी बहिन को नग्नावस्था ग्रहण करने से मना कर दिया। दो अन्य व्यक्ति कौण्डिय और कौत्तवीर उसके शिष्य हो गये। इस प्रकार बोडियो के द्वारा नग्नता - दिगम्बर (दिग्-दिशाएं, अम्बर-वस्त्र) मत का तर्क प्रस्तुत करते हैं।[6]

(1) दृष्टिवाद के अतिरिक्त श्वेताम्बरों के ग्यारह अंग हैं जबकि दिगम्बरों के पास एक भी नहीं है। दिगम्बर साहित्य उनके प्रादुर्भाव के बाद अर्थात् 82 ई. सन् के बाद रचा गया।

(2) श्वेताम्बरों के आगम साहित्य में दिगम्बरों का कोई उल्लेख नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि अंग प्राचीन है तथा दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के पूर्व रचे गये हैं।

(3) गोषाल आजीविक का बौद्ध पिटकों और भगवती सूत्र में वर्णन मिलता है जबकि दिगम्बरों के प्राचीन से प्राचीन साहित्य में ऐसा कोई विवरण नहीं मिलता।

(4) कल्पसूत्र की स्थविरावली में जो गण और कुल मिलते हैं, वे वहीं है जो मथुरा के जैन शिलालेखों में मिलते हैं।

दिगम्बर मत : श्वेताम्बर दिगम्बर के भेद की उत्पत्ति के विषय में दिगम्बर मतावलम्बी एक दूसरी ही कहानी कहते हैं। उनका कहना हे कि चन्द्रगुप्त के राज्य में भद्रबाहु ने मगध में बारहवर्षीय दुर्भिक्ष पड़ने की भविष्यवाणी की थी। अतः साधुओं का एक भाग भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण भारत चला गया था। शेष साधु मगध में ही रह गये थे। कुछ कालोपरांत जब इनके प्रधानाचार्य उज्जैन में मिले तब भी दुर्भिक्ष चल रहा था। इस कारण इन्होंने भिक्षा मांगने के लिये जाते समय अर्धफालक के उपयोग की अनुमति अपने शिष्यों को दे दी थी। किन्तु दुर्भिक्ष समाप्ति के पश्चात् अर्धफालक धारण करने वाले साधुओं ने अर्धफालक उतारने से मना कर दिया। नई धारा को पसन्द नहीं करने वाले तत्त्वों ने इसके

विरोध की घोषणा दृढ़ता के साथ की और इस प्रकार ये अर्धफालक श्वेताम्बरों के अग्रदूत सिद्ध हुए।[7]

डॉ.देव[8] इन दोनों सम्प्रदायों के अंतिम विभाजन के विषय में लिखते हैं कि वल्लभीपुर के राजा लोकपाल की रानी चन्द्रलेखा के कारण अंतिम विभाजन हुआ। ऐसा कहते हैं कि ये अर्धफालक साधुगण रानी चन्द्रलेखा के द्वारा निमंत्रित किये गये। जब राजा और रानी ने साधुओं को न तो नग्नावस्था में और न ही पूर्ण वेश में देखा तो दोनों ही बड़े निराश हुए। इसलिये अर्धफालकों को कहा गया कि वे पूर्णरूप से वस्त्र धारण कर लें। उसी समय से अर्धफालकों ने सफेद वस्त्र पहनना प्रारंभ कर दिया और तभी से वे श्वेताम्बर (श्वेत-सफेद, अम्बर-वस्त्र) कहलाने लगे।[9]

निम्नांकित तथ्यों की ओर जब हम देखते हैं तो वे दिगम्बर मत की पुष्टि करते हैं।

(1) मगध में दुर्भिक्ष का तथा साधुओं के दक्षिण भारत की ओर विहार करने का सन्दर्भ श्रवण-बेलगोला के ई.सन् 600 के अभिलेख में आया है।[10]

(2) स्थानांग में महावीर गौतम से कहते हैं कि यह विचारणीय है कि न तो आचारांग और न ही कल्पसूत्र में सोमिल ब्राह्मण की कथा का सन्दर्भ है। यह केवल टीकाओं में ही मिलती है।[11]

(3) श्वेताम्बर ग्रन्थ भी दो प्रकार के साधु जीवन का उल्लेख करते हैं। 1. जिनकप्पी और 2. थेरकप्पी। इनमें से कुछ ने नग्नता स्वीकार कर 'जिन' की नक़ल करने का प्रयास किया।[12]

(4) खारवेल के कलिंग के शिलालेख (दूसरी सदी ई.पूर्व) में एक जिन प्रतिमा का उल्लेख है। यह प्रतिमा वह (खारवेल) मगध से वापस लाया था, जिसको नंद ले गया था।[13]

(5) उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाओं की प्रतिमाओं से यह विदित होता है कि केवल तीर्थंकरों को नग्न दिखाया गया है। किन्तु कभी-कभी उनको वस्त्र भी पहना दिये गये हैं। यद्यपि ऐसी प्रतिमा तीर्थंकरों के मानवीय जीवन को प्रदर्शित करने के लिये वस्त्रसहित प्रस्तुत की गयी है।[14]

श्वेताम्बर मत : दिगम्बरों के उपर्युक्त प्रमाणों के विरुद्ध श्वेताम्बर अपने समर्थन में कहते हैं[15]:-

(1) सौमील की कथा महावीर के द्वारा शरीर के प्रति मोह न करने की ओर संकेत करती है।

(2) विद्वान् अभी भी भद्रबाहु की तिथि के विषय में एकमत नहीं हैं

क्योंकि जैनधर्म में अनेक भद्रबाहु हुए हैं।

(3) अंगों में वस्त्र धारण करने के जो नियम हैं, उनसे यह अनिवार्य नहीं लगता कि नग्न ही रहा जाय। उसमें शरीर के प्रति मोह न करने पर जोर दिया गया है।

(4) जिनकप्पी भी वस्त्रों का उपयोग करते थे।

हार्नले दिगम्बरत्व के विचार में आजीविकों का प्रभाव मानते हैं।[16]

दिगम्बर-श्वेताम्बर में मतान्तर :-

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों के मत में मुख्य रूप से निम्नानुसार अन्तर हैं।[17]

(1) दिगम्बर मतावलम्बियों का यह विश्वास है कि जिस साधु के पास सम्पत्ति है अर्थात् जो वस्त्र धारण करता है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, जबकि श्वेताम्बर मतवालों का कहना है कि मोक्ष के लिये पूर्ण नग्नता अनिवार्य नहीं है।

(2) दिगम्बर मतावलम्बी कहते हैं कि वर्तमान जीवन में नारी मोक्ष की पात्रता नहीं रखती। इसके विपरित श्वेताम्बर मतावलम्बियों का विश्वास है कि वर्तमान जीवन में स्त्री निर्वाण प्राप्त कर सकती है।

(3) दिगम्बर मतावलम्बियों के अनुसार साधु जब एक बार 'केवलज्ञान' या 'सर्वज्ञान' प्राप्त कर लेता है, तब उसे भोजन की आवश्यकता नहीं रहती। वह अपने जीवन को बिना भोजन किये स्थिर रख सकता है। श्वेताम्बर मतावलम्बी इस सिद्धानत को नहीं मानते।

इन उपर्युक्त मतवैभिन्य को यदि छोड़ भी दें तो भी निम्नांकित बिन्दु ऐसे हैं जिन पर दोनों सम्प्रदाय वाले सहमत नहीं हैं:-

(1) दिगम्बर मतावलम्बी मानते हैं कि भगवान महावीर पहले ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवनंदा के गर्भ में अवतरित हुए थे, जबकि श्वेताम्बर मतावलम्बी उनको त्रिशला नाम की स्त्री से जन्म लेने की परम्परा पर दृढ़ हैं।

(2) दिगम्बर मतावलम्बी समस्त प्राचीन पवित्र साहित्य को छिपा रखने में विश्वस करते हैं किन्तु ऐसा श्वेताम्बर मतावलम्बी नहीं मानते।

(3) दिगम्बर मत वाले मानते हैं कि महावीर का कभी विवाह ही नहीं हुआ था, किन्तु श्वेताम्बर मतावलम्बी महावीर का विवाह यशौदा के साथ और उससे अनोज्जा या प्रियदर्शना नामक एक पुत्री का जन्म मानते हैं।

(4) श्वेताम्बर मतावलम्बी 19वें तीर्थंकर मल्लीनाथ को नारी मानते हैं, जबकि दिगम्बर मतवाले मल्लीनाथ को पुरुष मानते हैं।

(5) दिगम्बर मतावलम्बियों के अनुसार तीर्थंकरों को निराश नेत्रों के साथ नग्न और अशोभित रूप में प्रस्तुत करना उचित है। इसके विपरित श्वेताम्बर मतावलम्बियों का कहना है कि ऐसा प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार जैनधर्म के इन दो भेदों में पर्याप्त अन्तर आ गया है। इस अन्तर के साथ ही यह बात भी है कि जैनधर्म के इन भेदों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वल्लभीपुर, रथवीरपुर और उज्जैन का नाम जोड़ा जाता है। जैनधर्म में भेदों से अनेक उपभेद बन गये हैं।

संघ, गण और गच्छ : राजनैतिक दृष्टिकोण से संघ और गण का अर्थ सुपरिचित है। संघराज्य जाति विशेष के राज्य का घोतक है तो गणराज्य जनता के शासन का प्रतीक है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में गण और संघ में कोई अन्तर नहीं था और ऐसा लगता है कि जैनधर्म में संघ और गण शहरों का प्रचलन तत्कालीन संघ, गणों से लिया गया है क्योंकि महावीर स्वामी के समय संघ और गणराज्यों का अस्तित्व सिद्ध है। गण का प्रमुख गधणर कहलाता था। 'गणधर' धार्मिक और राजनैतिक दोनों क्षेत्रों में समान रूप से प्रयुक्त होता था। प्राचीन काल में जैनधर्म में संघ और गण का अस्तित्व यह प्रकट करता है कि उस समय सांसकृतिक एवं राजनैतिक दृष्टिकोणों से जैन समाज भलीभांति संगठित था। गण समयांतर से गच्छ के रूप में भी जाना जाने लगा।

प्राचीनतम गण : कल्पसूत्र से विदित होता है कि उस समय सात गण इस प्रकार थे। यथा- (1) गोदास (2) उद्देह (3) उडुवाटिक (4) वेसवाटिक (5) चारण (6) मानव और (7) कोटिक।[18]

प्रथम गण की चार शाखाएं और कुल हैं। द्वितीय गण की स्थापना आर्यरोहण के द्वारा की गई थी और यह चार शाखाओं और छः कुलों में विभक्त हुआ। तृीतय गण चार शाखाओं और तीन कुलों में बंटा है। चौथा गण कामधर्मी के द्वारा स्थापित किया गया और इसमें चार शाखाएं और कुल हैं। पांचवा गण चार शाखाओं और सात कुलो में विभाजित है। छठा गण चार शाखाओं और तीन कुलों में विभक्त हुआ। सातवां गण सुस्थित के द्वारा स्थापित किया गया था और यह चार कुलों तथा सात शाखाओं में विभक्त था।[19]

गच्छों की उत्पत्ति कोई एक समय नहीं हुई। समय के प्रवाह के साथ-साथ इनकी संख्या में भी वृद्धि होती रही। इसी तरह गच्छों के नाम भी किसी प्रभावशाली आचार्य के नाम पर, अच्छे कार्यों अथवा स्थानों के आधार पर ही इनके नाम पड़े हैं। महत्त्वपूर्ण गच्छों का विवरण इस प्रकार हैः-

(1) वृहद्गच्छ : कुछ लोगों के मतानुसार वटवृक्ष के नीचे सर्वदेवसूरि को

मुख्याचार्य की उपाधि प्रदान की गई थी, तब निर्ग्रंथगच्छ वटगच्छ के नाम से भी पुकरा जाने लगा, जिसका दूसरा नाम वृहद् गच्छ भी है।[20] मालवा में इस गच्छ का अस्तित्व कबसे है निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

(2) खरतरगच्छ : खरतरगच्छ प्रसिद्ध तथा प्रभावशाली गच्छ है। इस गच्छ की उत्पत्ति के विषय मे ऐसा कहा जाता है कि दुर्लभराज की राजसभा में जब जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियों को विवाद में परास्त कर दिया तब उन्हें खरतर की उपाधि ई.सन् 1017 में प्राप्त हुई और उसी से खरतरगच्छ प्रारम्भ हुआ।[21] यद्यपि खरतरगच्छ का अस्तित्व मालवा में पाया जाता है किन्तु बाद का तत्संबंधी उल्लेख है। बारहवीं सदी के आसपास का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है। इस कारण बाद में मालवा में इस गच्छ का प्रसार कब हुआ, कहना कठिन है।

(3) तपागच्छ : जगचन्द्रसूरि न केवल विद्वान् थे वरन् महान साधु और तपस्वी भी थे। जगचन्द्रसूरि ने 'आयंबिल' तपस्या करना स्वीकार किया था और इसमें इनहोंने बारह वर्ष व्यतीत कर दिये थे। इसको देखते हुए मेवाड़ के राजा जयसिंह ने इन्हें सन् 1228 में 'तपा' की उपाधि से विभूषित किया। तभी से निग्रन्थगच्छ का एक दूसरा नाम तपागच्छ हुआ।[22] मालवा में इस गच्छ के अनुयायियो का बहुल्य है किन्तु जैसा कि इसकी उत्पत्ति के समय में विदित होता है इस गच्छ का प्रसार मालवा में तेरहवीं-चौदहवीं सदी में कभी हुआ होगा।

(4) आंचलगच्छ : विजयचन्द्र उपाध्याय प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने विधिपक्ष नामक गच्छ प्रारम्भ किया था। एक बार एक व्यापारी कोटी पाटन गया। प्रतिक्रमण करते समय उसने अपने वस्त्र का कोना उपयोग में लिया, जबकि उसे मुख पट्टिका उपयोग करना था। कुमारपाल ने इसका कारण पूछा, गुरु ने विधिपक्ष के विषय में कुमारपाल को बताया और तब कुमारपाल भी अपने वस्त्र का कोना उपयोग में लेने लगा और तब से विधिपक्ष आचलगच्छ के नाम से पुकारा जाने लगा।[23] इस गच्छ का प्रसार ई.सन् 1166 के आसपास से माना जाता है।[24]

(5) अन्यगच्छ : कुछ और अन्य गच्छ हैं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये मालवा में पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हो सके। इनके नाम तथा उत्पत्ति आदि इस प्रकार है-

(1) पूर्णिमियागच्छ और सार्थपूर्णिमियागच्छ : जैसा कि नाम से प्रतीत होता है, पूर्णिमा के दिन से प्रारम्भ होने के कारण पूर्णिमियागच्छ नाम पड़ा। सार्थपूर्णिमियागच्छ का प्रारम्भ ई.सन् 1179 के लगभग हुआ। ऐसा कहा जाता है कि एक बार राजा कुमारपाल ने हेमचंद्र से कहा कि पूर्णिमियागच्छ के मानने वालों को बुलाकर पूछा जाय कि वे जैन धर्म ग्रन्थों के आधार पर आचरण करते

हैं कि नहीं? इस पर इस गच्छ के प्रमुख को बुलाया गया और कुमारपाल ने इसी प्रकार की पूछताछ की। किन्तु गच्छ प्रमुख सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सका तब गच्छ प्रमुख को वनवास जाने को कहा गया। कुमारपाल की मृत्यु के उपरांत इस गच्छ के आचार्य सुमतिसिंह पाटन आये। जनता के पूछने पर इन्होंने कहा कि हम सार्थपूर्णिमियागच्छ से सम्बन्धित हैं। इस गच्छ के अनुयायी जैन प्रतिमाओं की पूजा फलों से नहीं करते।[25]

(2) आगमिकगच्छ : पूर्णिमियागच्छ के दो आचार्य शीलगुणसूरि तथा देवभद्रसूरि थे। ये आंचलगच्छ में सम्मिलित हो गये थे किन्तु शीघ्र ही इन्होंने आंचलगच्छ भी छोड़ दिया और अपना एक नया गच्छ प्रारम्भ कर दिया। इन्होंने शिक्षा दी कि प्रार्थना क्षेत्र देवता को समर्पित न की जावे। इसके अतिरिक्त इन्होंने और नवीन मत प्रतिपादित किये तथा अपने गच्छ को आगमिक गच्छ नाम दिया।[26] इस गच्छ की उत्पत्ति ई.सन् 1157 या 1193 ई.सन् में मानी जाती है किन्तु इसका प्रचार-प्रसार 15वीं शताब्दी में ही हुआ।[27]

(3) चन्द्रगच्छ : यह कुल गच्छ है। चन्द्र कुल समयांतर से चन्द्रगच्छ में परिवर्तित हो गया।[28] इसकी उत्पत्ति किस प्रकार और कब हुई कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती।

(4) नागेन्द्रगच्छ : नागेन्द्र कुल से यह नागेन्द्रगच्छ हुआ। इस गच्छ के विषय में भी कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती।

(5) निवृत्तिगच्छ : ऐसा प्रतीत होता है कि यह भी निवृत्ति कुल से समयांतर से निवृत्ति गच्छ कहलाने लगा। इसके विषय में भी कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं।

उपर्युक्त गच्छों की जानकारी तो मात्र एक झलक है क्योंकि जैनधर्म में इस प्रकार के गच्छों की भरमार है। फिर इनके भी उपगच्छ हैं। श्री व्ही.ए.सांगवे ने 87 गच्छों की सूची दी है।[29] किन्तु वर्तमान काल में ऐसा प्रतीत होता है कि कई गच्छों का अब अस्तित्व ही नहीं रहा। इस प्रकार गच्छों के विषय में और अधिक विस्तार में जानना उचित प्रतीत नहीं होता है। दूसरे बाद में जो गच्छों की उत्पत्ति हुई उनमें अधिकांश 13वीं 14वीं शताब्दी के अथवा उसके बाद के हैं जो हमारे क्षेत्र के बाहर के हैं।

दिगम्बर संघ : जैनधर्म के दो भागों में विभक्त हो जाने के उपरांत अनेक उपभेदों में बंट गया और उन उपभेदों में भी कई विभाग एवं उपविभाग हो गये। जैसे संघ गण, गच्छ और शाखा। दिगम्बर मत में निम्नांकित प्रमुख संघों का उदय हुआ-

(1) मूल संघ (2) द्राविड़ संघ (3) काष्ठा संघ एवं (4) माथुर संघ

(1) मूल संघ : दिगम्बर मतावलम्बियों के संघों में सबसे प्राचीन मूल संघ है। इसकी उत्पत्ति विक्रम संवत् 526 में हुई।[30] किन्तु डॉ.कैलाशचन्द्र जैन का कहना है कि लगभग 4थी और 5वीं सदी के दो शिलालेखों में मूलसंघ का उल्लेख मिलता है और ऐसा लगता है कि मूलसंघ की उत्पत्ति द्वितीय शताब्दी में, जैन समाज के दिगम्बर और श्वेताम्बर दो भेद हो जाने के उपरांत हुई।[31] डॉ.जैन यह भी मानते हैं कि प्रारम्भ में कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघ अगल-अलग रहे होंगे क्योंकि जिस शिलालेख में मूलसंघ का उल्लेख है उसमें कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख नहीं है और जिस शिलालेख में कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है उसमें मूलसंघ का उल्लेख नहीं है। इस प्रकार मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय का प्रारम्भ द्वितीय शताब्दी के पूर्व हो सकता है।[32] श्री एस.बी.देव ने श्रमण बेलगोला के शिलालेख क्रमांक 254 सं. 1398 के आधार पर लिखा है कि अर्हद्बली ने कुन्कुन्दान्वय को मिलाकर मूलसंघ को चार संघों में बनाया। सन् 700 के बाद प्राप्त होने वाले अनेक अभिलेखों में इस संघ का सन्दर्भ मिलता है इसके महत्त्व को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है।[33] इसमें मूलसंघ की प्राचीनता प्रतिपादित होती है। सम्भव है जैन समाज के दो भागो में विभक्त हो जाने के उपरांत दूसरी शताब्दी के आसपास मूलसंघ की उत्पत्ति हुई हो।

मालवा में भी कई मूर्तिलेखों की प्राप्ति हुई है जिनमें मूलसंघ का स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है। उपलब्ध लेखों में संवत् 1223 का लेख प्राचीनतम है। यह लेख जयसिंहपुरा उज्जैन के मंदिर के देवालय में प्रतिष्ठित प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। लेख इस प्रकार है:-

संवत् 1223 वर्ष माघ सुदी 7 भौमे श्री मूलसंघे भट्टी श्री विशाल कीर्तिदेव तस्य शिष्य श्री शत्रुकीर्तिदेवस्य....आचार्य श्री सागरचन्द्र तस्य शिष्य रत्नकीर्ति श्री मैइतवालान्वयै सा. (साहु) भौगा भार्या सावित्री पुत्र माखिल भार्या विल्ह पुत्र परम भार्या पद्मवति व्याप्त विणी पुत्र..... प्रणमति नित्यम्[34]।।

एक दूसरा लेख संवत् 1230 का है जिसमें भी मूलसंघ का उल्लेख है। यह लेख बदनावर से प्राप्त प्रतिमा पर अंकित है। लेख इस प्रकार है:-

संवत् 1230 माघसुदी 13 श्री मूलसंघे आचार्य भयाराम... नागपनि भार्या जमनी सुत साधु सवता तस्य भार्या रतना प्रणमती नित्यं धांधाबील वाल्ही सादू।[35]

इस प्रकार मालवा में मूलसंघ का प्राचीनतम उल्लेख वर्तमान उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर संवत् 1223 प्रमाणित होता है। बाद के और प्रतिमा लेखो

में भी इस संघ का पर्याप्त रूप से उल्लेख मिलता है। माण्डवगढ़ के पास जेरहट शाखा में जो भट्टारको की पट्टावली मिलती है, वह मूल संघ से ही सम्बन्धित है। पट्टावली पर्याप्त बाद की अर्थात् 15वीं 16वीं शताब्दी की है।[36]

(2) द्राविड़ संघ : इस संघ की स्थापना पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने मथुरा में विक्रम संवत् 526 में की।[37] किन्तु सालेतोर के अनुसार द्राविड़ संघ की स्थापना वज्रनंदी के द्वारा नवीं शताब्दी के अंतिम चंतुर्थांश में अथवा दसवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में मथुरा में की गई।[38] किन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि दर्शनसार के रचयिता देवसेन ने जब द्राविड़ संघ का उल्लेख किया है तो यह मानना ही पड़ेगा कि द्राविड़ संघ देवसेन के पूर्व का है। देवसेन ने अपना दर्शनसार वि.सं.990 अर्थात् ई.सन् 933 में लिखा[39] यदि द्राविड़ संघ को नवी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश अथवा 10वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश का माना जाय तो यह किस प्रकार सम्भव है कि वह इतनी शीघ्र दक्षिण भारत से उत्तर भारत तक फैल जावे और लोकप्रिय हो जावे? अतः यह स्वीकार करना होगा कि द्राविड़ संघ की उत्पत्ति छठी शताब्दी में ही हुई। दूसरे वज्रनंदी राजा दुर्विनीत के शासनकाल में रहता था। राजा दुर्विनीत ने ई.सन् 478 से 513 ई. सन् तक राज किया।[40] इससे भी यही प्रमाणित होता है कि वज्रनंदी का समय 5वीं 6ठी शताब्दी है और छठी शताब्दी ही द्राविड़ संघ का उत्पत्ति काल है। इस संघ का जैसा कि नाम है वह उसी प्रदेश का प्रतीक है, जहां इसका जन्म हुआ।

(3) काष्ठा संघ : देवसेन के दर्शनसार के अनुसार काष्ठासंघ की स्थापना कुमारसेन के द्वारा नन्दीतलग्राम में विक्रम संवत् 753 में की गई।[41] एक धारण यह भी है कि लोहाचार्य ने काष्ठ प्रतिमाओं की पूजा प्रारम्भ की जिससे इस संघ की स्थापना हुई।[42]

कुछ समयोपरांत यह जैन भाण के नाम से पुकारा जाने लगा क्योंकि इस संघ से सम्बन्धित साधुगण मठों में रहने लगे थे तथा भूमि भेंट में स्वीकार करते थे।[43]

श्री एस.देव[44] ने काष्ठा संघ के आम्नाय, अन्वय, गच्छ और गणों की जानकारी इस प्रकार दी है।

आम्नाय - (1) जिनकीर्ति (2) लोहाचार्य (3) रामसेन

अन्वय - (1) अग्रोतक (2) खण्डेलवाल (3) लोहाचार्य (4) माथुर (5)रामसेन

गच्छ - (1) बागड (2) लाड़बागड़ (3) मण्डिता (4) माथुर (5) पुष्कर (6) तपा

गण - (1) लाड़ बागड़ (2) पुष्कर

मालवा में इस संघ का अस्तित्व कब से है? इस संबंध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

(4) माथुर संघ : ऐसा कहा जाता है कि यह काष्ठा संघ की एक शाखा और मथुरा में रामसेन ने विक्रम संवत् 953 में इसकी नींव डाली।[45] दर्शनसार के कर्ता देवसेन के अनुसार इसकी उत्पत्ति काष्ठा संघ की स्थापना के दो सौ वर्ष पश्चात् रामसेन के द्वारा की गई।[46]

मालवा में माथुर संघ का प्राचीनतम उल्लेख बदनावर से प्राप्त संवत् 1210 की एक प्रतिमा लेख में मिलता है। लेख इस प्रकार है[47]:-

संवत् 1210 वर्ष वैसाख सुदी 1 सुक्रे श्रीमाथुर संघे त्वायवासे कुमारसेन सिसवधु भरी जस हसता जयकार कारितं।।

एक दूसरा प्रतिमा लेख संवत् 1228 का इस प्रकार है:-

संवत् 1228 वर्ष पफालगुन सुदी 5। सनैः श्री मन्माथुर संघे पंडिताचार्य श्री धर्मकी तस्य शिष्य आचार्य ललितकीर्ति प्रण।

संवत् 1234 के लेख में बदनावर (वर्द्धमानपुर) का स्पष्ट उल्लेख है। यथा- शिष्य ललितकीर्तिः। वर्द्धमान पुरान्वये सा. प्रामदेव भार्या प्राहिणासुत राणू केलू चालू सा. महण भार्या रूपिणी सुत नेमी थांथा बीजा यमदेवः बयाराम देव सिरीचंद रादर प्रणमति नित्यं।।

इस प्रकार 11वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में माथुरसंघ का अस्तित्व मालवा में था और इसकी कीर्ति बढ़ रही थी।

मालवा में दिगम्बर भट्टारकों की गादियां रही हैं। किन्तु उन सब की पट्टावलियां उपलब्ध नहीं होती। जेरहट शाखा की जो पट्टावलि मिलती है वह पर्याप्त बाद की है। उज्जैन की गादी की जो पट्टावलि मिलती है वह इस प्रकार है:-

(1) महाकीर्ति (सन् 629) (2) विष्णुनन्दि (सन् 647) (3) श्रीभूषण (सन् 669) (4) श्रीचन्द्र (सन् 6787) (5) श्रीनन्दि (692) (6) देशभूषण (708) (7) अनन्तकीर्ति (708) (8) धर्मनंदि (728) (9) विद्यानंदि (751) (10) रामचन्द्र (783) (11) रामकीर्ति (790) (12) अभयचन्द्र (8214) (13) नरचन्द्र (840) (14) नागचन्द्र (856) (15) हरिनन्दि (882) (16) हरिचन्द्र (891) (17) महीचन्द्र (18) माघचन्द्र (933) (19) लक्ष्मीचन्द्र (966) (20) गुणकीर्ति (970) (21) गुणचन्द्र (991) (22) लोकचन्द्र (1009) (23) श्रुतकीर्ति (1022) (24) भावचन्द्र (1037) (25) भट्टीचन्द्र (1058)।[48]

इन भट्टारकों के विषय में अन्य कोई जानकारी नहीं मिलती।

(1) चैत्यवासी तथा अन्य सम्प्रदाय : जैन संघ में जो भेदोपभेद, सम्प्रदाय व गण गच्छादि रूप से, समय-समय पर उत्पन्न हुए उनसे जैन मान्यताओं व मुनि आचार में कोई विशेष परिवर्तन हुए हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता। केवल जो दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद विक्रम की दूसरी शती के लगभग उत्पन्न हुआ, उसका मुनि आचार पर क्रमशः गंभीर प्रभाव पड़ा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में न केवल मुनियों द्वारा वस्त्र ग्रहण की मात्रा बढ़ी, किन्तु धीरे-धीरे तीर्थंकरों की मूर्तियों में भी कोपीन का चिह्न प्रदर्शित किया जाने लगा तथा मूर्तियों की आंख, अंगी, मुकुट आदि द्वारा अलंकृत किया जाना भी प्रारम्भ हो गया।[49] इस कारण दिगम्बर और श्वेताम्बर मंदिर व मूर्तियां जो पहले एक ही रहा करते थे, वे अब पृथक्-पृथक् होने लगे। ये प्रवृत्तियां सातवीं आठवीं शती से पूर्व नहीं पाई जाती। एक ओर इस प्रकार से मुनिसंघ में भेद दोनों सम्प्रदायों में उत्पन्न हुआ। जैन मुनि आदि वर्षाऋतु के चातुर्मास को छोड़ अन्य काल में एंक स्थान पर परिमित दिनों से अधिक नहीं ठहरते थे और वे सदा विहार किया करते थे। वे नगर में आहार एवं धर्मोपदेश के निमित्त ही आते थे, और शेष काल वन, उपवन, में ही रहते थे। किन्तु धीरे-धीरे पांचवीं-छठी शताब्दी के पश्चात् कुछ साधु चैत्यालयों में स्थायी रूप से निवास करने लगे। इससे श्वेताम्बर समाज में वनवासी और चैत्यवासी मुनि सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये।[50] दिगम्बर सम्प्रदाय में भी प्रायः उसी काल में कुछ साधु चैत्यों में रहने लगे। यह प्रवृत्ति आदितः सिद्धान्त के पठन-पाठन व साहित्य-सृजन की सुविधा के लिये प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है, किन्तु धीरे- धीरे वह एक साधु वर्ग की स्थायी जीवन प्रणाली बन गई, जिसके कारण नाना मंदिरों में भट्टारकों की गद्दियां व मठ स्थापित हो गये। इस प्रकार के भट्टारकों के आचार में कुछ शैथिल्य तथा परिग्रह अनिवार्यतः आ गया। किन्तु दूसरी ओर उससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि इन भट्टारक गद्दियों और मठों में विशाल शास्त्र भण्डार स्थापित हो गये और वे विद्याभ्यास के सुदृढ़ केन्द्र बन गये। दसवीं शताब्दी से आगे जो साहित्य-सृजन हुआ, वह प्रायः इसी प्रकार के विद्या-केन्द्रों में हुआ पाया जाता है। इसी उपयोगिता के कारण भट्टारक गद्दियां धीरे-धीरे प्रायः सभी नगरों में स्थापित हो गई और मंदिरों में अच्छा शास्त्र भण्डार भी रहने लगा। यहीं प्राचीन शास्त्रों की लिपियां प्रतिलिपियां होकर उनका नाना केन्द्रों में आदान-प्रदान होने लगा।[51]

आचार्य धर्मसागर की पट्टावली के अनुसार चैत्यवासी सम्प्रदाय ई.सन् 355 में प्रारम्भ हुआ जबकि मुनि कल्याणविजय के अनुसार इस सम्प्रदाय का उदय ई.सन् 355 से पहले हुआ और इस समय तब यह सम्प्रदाय जम चुका था।[52]

वर्तमान में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यति या श्रीपूज्य और दिगम्बर सम्प्रदाय में भट्टारक जो मठवासी के रूप में जाने जाते हैं। ये दोनों ही सम्प्रदायवाले सम्मिलित रूप से चैत्यवासी कहलाते हैं।[53]

दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य में चैत्यवासियों की उत्पत्ति विषयक कोई जानकारी नहीं मिलती।

भट्टारकगण धार्मिक और आध्यात्मिक प्रधान होते हैं तथा इनके अधीन अनेक आचार्य तथा पंडित होते हैं। ये आरामपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं तथा धन एवं अन्य मूल्यवान वस्तुएं श्रद्धालु भक्तों से भेंट में प्राप्त करते हैं। इनको प्रशासकीय अधिकार भी होते हैं जिसके अन्तर्गत ये अलग-अलग स्थानों पर आचार्यों तथा पंडितों की नियुक्ति करते हैं जो कि धार्मिक विषयों की देखभाल करते हैं।

(2) लोंका : सन् 1508 में लोंकाशाह अहमदाबाद में जैनागमों की प्रतिलिपि करने का कार्य करते थे। एक बार प्रतिलिपि करते समय ग्रन्थ के मध्य के 5-7 पृष्ठों की नकल छोड़ दी, जिनको लेकर जैन यति, जिन्होंने प्रतिलिपि का काम सौंपा था, से विवाद हो गया। फलतः आपने एक नवीन मत का प्रादुर्भाव व प्रचार किया।[54]

आपने "मूर्ति पूजा में हिंसा है और हिंसा में धर्म नहीं हो सकता" इत्यादि अपने विचारों का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उनके विचारों से पारख लखमसी आदि कई व्यक्ति सहमत हुए और वे आपके सहायक शिष्य बन गये। प्रत्येक स्थान पर प्रश्न करते- "धर्म दया में है या हिंसा में"? तो यही सहज उत्तर मिलता कि धर्म तो दया में ही है, हिंसा में नहीं। इस पर वे कहते कि तो फिर मूर्तिपूजा में जल, फल आदि के जीवों की हिंसा प्रत्यक्ष है अतः इसमें धर्म कैसे हो सकता है? यह उक्ति साधारण व्यक्तियों पर तत्काल असर कर जाती और स्याद्वाद-युक्त जिनाज्ञा की गंभीरता से अनभिज्ञ भद्रप्रकृति के लोग भ्रम में पड़ जाते।[55] अतः इसे लौंकाशाह के मत प्रचार का मूलमंत्र कह दें तो अनुचित नहीं होगा।

स्वमान्यता के पोषण में उन्होंने यह भी कहना प्राम्भ किया कि जैनागमों में मूर्तिपूजा और जिनमंदिर के पाठ का उल्लेख नहीं है। इस कथन के विरोध में सनातन श्वेताम्बर मुनियों ने जब आगमों के प्रमाणों को उपस्थित कर प्रतिवाद किया तब लोंकाशाह के मत प्रचारकों ने उपलब्ध श्वेताम्बर मूल आगमों को ही मान्य रखा और मूल में भी 45 आगमों को ही मान्य किया। इतना ही नहीं स्वमान्यता के पोषण तथा रक्षण के लिये स्वमान्य 45 आगमों में भी जहां कहीं

मूर्तिपूजा आदि अपने मत के विरोधी उल्लेख थे उनको अमान्य ठहराया।[56] श्री एस.बी.देव इस मत पर मुस्लिम प्रभाव देखते हैं।[57]

आगे चलकर इसी मत में से 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ढूंढक मत जिसे स्थानकवासी बाइस टोला (साधु मार्गी) भी कहते हैं, प्रादुर्भाव हुआ और उस मत में से संवत् 1818 के लगभग भीखणजी ने तेरापंथी मत निकाला।[58] समग्ररूप से हम यह कह सकते हैं कि लौंकाशाह ने अपने नाम से अपने सिद्धान्तों के आधार से एक अलग ही मत को जन्म दिया जो मूर्ति पूजा का विरोधी था।

(3) स्थानकवासी : जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है लोंकामत के कुछ सदस्यों ने स्थानकवासी सम्प्रदाय को जन्म दिया।[59] लोंका सम्प्रदाय के अनेक व्यक्ति स्थानकवासी सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गये। इसके विरोधियों ने इनको ढूंडिया या ढूंढक मत का नाम दिया। श्रीमती स्टीवेंसन इस सम्प्रदाय के जन्म का कारण मुस्लिम प्रभाव बताती हैं।[60] चूंकि यह सम्प्रदाय लोंका सम्प्रदाय से अलग हो गया। यह स्वाभाविक था कि यह भी मूर्तिपूजा विरोधी हो जाय। स्थानकवासी सम्प्रदाय को प्रारम्भ करने का श्रेय सूरत के वीरजी को दिया जाता है।[61] मालवा में सर्वत्र इस सम्प्रदाय के अनुयायी पाये जाते हैं।

(4) तेरापंथी : तेरापंथी सम्प्रदाय के संस्थापक भीखणजी थे। अपने समालोचनात्मक अध्ययन के आधार पर भीखणजी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जैनसाधु जैन धर्म के सिद्धांतों और शास्त्रीय आचार संहिता के अनुसार अपना जीवन व्यतीत नहीं कर रहे हैं। तब उन्होंने विक्रम संवत् 1817 में तेरापंथी सम्प्रदाय की स्थापना की।[62] इस सम्प्रदाय को भीखणजी ने सही नाम इस प्रकार दिया कि जैनधर्म में पांचमहाव्रत, पंचसंमिति तथा तीन गुप्तियां होती है जिनका योग तेरह होता है। इस कारण इसके पालनकर्ता तेरापंथी हुए।

तेरापंथी मूर्तिपूजा नहीं करते। इनका कथन है कि मूर्ति पूजने में मोक्ष प्राप्त नहीं होता।[63] श्वेताम्बर मत के इस सम्प्रदाय के अनुयायी मालवा में भी पाये जाते हैं।

श्वेताम्बर मतावलम्बियों की भांति ही दिगम्बर मतावलम्बियों में भी मूर्तिपूजक और जो मूर्ति पूजा विरोधी दो सम्प्रदाय पाये जाते हैं। समयांतर से ये उपभेद भी पुनः अनेक भेदों में विभक्त हो गये। दिगम्बर मत के प्रमुख सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

(1) तेरापंथी : श्वेताम्बर मत में मूर्तिपूजा का निषेध किया गया है। किन्तु दिगम्बर तेरापंथी मूर्ति पूजक हैं तथा ये अक्षत, चन्दन आदि से मूर्ति की पूजा करते हैं। इनके मंदिरों में क्षेत्रपाल भैरव आदि की प्रतिमा नहीं होती ये आरती भी

नहीं करते था मंदिर में मिठाई भी वितरित नहीं करते। पूजन करते समय ये खड़े रहते हैं, बैठते नहीं। ये भट्टारकों को अपना धर्मगुरु नहीं मानते।[64] इसकी स्थापना पं.अमरचंद बड़जात्या के द्वारा की गई।[65] ये तेरापंथी समाज सुधारक प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन्होंने जैनधर्म की अनेक रूढ़िगत परम्पराओं का विरोध इस आधार पर किया कि ये वास्तविक जैनधर्म से सम्बन्धित नहीं है। भट्टारकों के आचार एवं व्यवहार में शिथिलता आ जाने के विरोध में इस सम्प्रदाय का उदय वि.सं.1683 में हुआ।[66]

(2) तारण संघ : तारण पंथ के प्रवर्तक तारण स्वामी थे। तारण स्वामी का जन्म पुहुपावती नगरी में सन् 1448 में हुआ था। तारण स्वामी के पिता का नाम गढ़ासाव था। वे दिल्ली के बादशाह बहलोल तोदी के दरबार में किसी पद पर कार्य करते थे। बाद में किसी कारण से वे दिल्ली छोड़कर पुहुपावती नगरी में बस गये। वे बाल्यकाल से ही बड़े होनहार दिखाई देते थे। इनकी स्मरणशक्ति बहुत तीव्र थी और शिक्षा श्री श्रुतसागर मुनि के पास हुई। थोड़े ही समय में इन्होंने बहुत से ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया। इन्हें धर्म के बाह्य आडम्बर पसन्द नहीं थे। यही कारण है कि इन्होने मूर्तिपूजा का विरोध किया।

ताराण स्वामी के उपदेश : तारण स्वामी का कहना था कि यदि हृदय पवित्र भावना से रिक्त है तो जड़ पूजा से क्या लाभ? वास्तव में आत्मा ही सब कुछ है।

उनका कहना था कि जैनधर्म समस्त प्राणियों के लिये स्थान हैं, वह सबका कल्याण करने वाला है। भगवान् महावीर के समवशरण में पुश-पक्षियों तक को स्थान था। सत्वैषु-मैत्री का पाठ पढ़ाने वाले जैनधर्म में ऊंच-नीच का भेद कभी भी नहीं हो सकता।[67] यहां तक कि इस पंथ में मुस्लिम सम्प्रदाय के व्यक्तियों ने भी दीक्षा ग्रहण की थी। तारण स्वामी का प्रमुख शिष्य रूई रमण मुसलमान था।[68] इस पंथ के मानने वाले मूर्ति पूजा न करके ग्रन्थ पूजा करते हैं और इस रीति में यह सिख धर्म के समान हैं जिसमें गुरु ग्रन्थ साहब की पूजा होती है।[69] तारण पंथ के प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं:-

(1) मूर्ति पूजा का विरोध
(2) जाति विभेद पर प्रतिबंध
(3) सांसारिक, धार्मिक विश्वासों एवं पम्पराओं को दूर करना।[70]

ऐसा प्रतीत होता है कि तारण स्वामी ने अपने ये सिद्धान्त इस्लाम धर्म की नीतियों एवं लोंकाशाह के सिद्धानत के प्रभाव में आकर प्रतिपादित किये।[71] तारण संघ का एक दूसरा नाम सामैय पंथ भी कहा जाता है।[72] मालवा में ही

उदय होने के कारण इसके अनुयायी मालवा के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों में भी पाये जाते हैं।

(3) गुमान पंथी : गुमान पंथ की स्थापना जयपुर निवासी पंडित टोडरमल के पुत्र गुमानीराम ने की। इस पंथ का नाम इसके संस्थापक के नाम के आधार पर गुमानपंथ पड़ा। इसका एक दूसरा नाम शुद्धाम्नाय भी कहा जाता है। क्योंकि इसके अनुयायी आचरण और चरित्र की पवित्रता पर जोर देते हैं और इसके लिये इस पंथ में अनुशासान के निश्चित नियम प्रभावशील किये।[73] इस पंथ का उदय 18वीं शताब्दी में हुआ।[74]

(4) बीसा पंथी : इस पंथ के मानने वाले भट्टारकों के अनुयायी हैं। इसकी उत्पत्ति संभवतः तेरहवीं शताब्दी में हुई।[75] ऐसा कहते हैं कि भोजन करते समय भट्टारक नग्न रहते हैं और उनके शिष्य घंटी बजाते हैं जिससे सामान्य व्यक्ति उनके पास न आ सके।[76] बीसा पंथी फल-फूल और मिठाई आदि से मूर्ति पूजा करते हैं। ये अपने मंदिरों में तीर्थपुर प्रतिमाओं के साथ क्षेत्रपाल, भैरव आदि की प्रतिमाएं भी रखते हैं। ये आरती करते तथा प्रसाद वितरण करते हैं। पूजा करते समय ये खड़े न रहकर बैठे रहते हैं। ये भट्टारकों को अपना धर्मगुरु मानते हैं।[77]

(5) तोता पंथी : एक समय बीसा पंथी और तेरापंथी सम्प्रदाय में एकता लाने के लिये प्रयास किये गये जिसके परिणामस्वरूप एक तीसरे पंथ उदय हुआ जो तोता पंथ कहलाया। यह पंथ आधा बीसा पंथ और आधा तेरापंथ से मिलकर बना है इसलिये इसका दूसरा नाम साढ़े सोलह पंथ भी बताया जाता है।[78]

जैनधर्म के भेदों और उपभेदों के अध्ययन से प्रकट होता है कि ये भेद वैचारिक मतवैभिन्न के परिणाम हैं। महावीरस्वामी के समय भी यह वैचारिक मतभेद था। उनके निर्वाण के पश्चात् अलग-अलग आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से जैनधर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत की जिस विषय में विवाद भी हुए। जहां कहीं इन आचार्यों का नवीन प्रकार की व्याख्या को पर्याप्त समर्थन न मिलकर विरोध का सामना करना पड़ा, वहीं उन्हीं आचार्य विशेष ने एक संघ अथवा पंथ विशेष की स्थापना कर दी। कुछ उनके अनुयायी बन गये और इस प्रकार एक नया संघ या पंथ बन गया। कुछ पंथ इस प्रकार भी बने कि दो संघों के एकीकरण की बात चली। दो संघों का एकीकरण तो नहीं हो सका किन्तु उसके स्थान पर एक नया ही संघ बन गया। मूलरूप में तो जैनधर्म एक ही है किनतु वृक्ष की शाखाओं-प्रशाखाओं की भांति इसमें भी संघ, गण, गच्छ और पंथों का प्रार्दुभाव हो गया जिनका पूजा-अर्चना करने का अपना-अपना ढंग है।

ई.सन् 12वीं सदी के पूर्व इस प्रकार के उपभेद कम दिखाई देते हैं किन्तु 14वीं और 15वीं शताब्दी के पश्चात् यह विभेदीकरण की प्रवृत्ति बढ़ चली है। जैनधर्म के इन भेदों और उपभेदों के विस्तार में हम नहीं गये हैं, केवल प्रमुख उपभेदों ही से ही संक्षिप्त चर्चा करदी है।

:: संदर्भ सूची ::

1 श्री तपगच्छ श्रमण वंश वृक्ष, पृष्ठ 27
2 दर्शनसार, पृष्ठ 7, श्रमण भगवान महावीर, भाग 4 पृष्ठ 269, श्री तपगच्छ श्रमणवंश वृक्ष पृष्ठ 28 और Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. I, Page 259.
3 श्रमण भगवान महावीर, भाग-4, पृ.272
4 आवश्यक भाष्यवृत्ति, पृष्ठ 418, 27
5 The History of Jaina Monachism, Page 80.
6 Jainism In Rajasthan, Page 54.
7 Jaina Antiquary Vol. VIII-1 Page 35. दर्शनसार पृष्ठ 60
8 The History of Jaina Monachism, Page 81.
9 Jaina Antiquary xi-11, page 67, Indian Antiquary No.37, Page 37-38
10 Indian Antiquary Vol. III, page 155-158.
11 History of Jain Monachism, Page 82.
12 Ibid, Page 82.
13 Epigraphia Indica, Vol. XX, Page 80.
14 History of Jain Monachism, Page 82.
15 Ibid, Page 82.
16 Encyclopadeia of Religion & Ethics 1, Page 267.
17 Jaina-Community - A Social Survey, Page 52-53.
18 कल्पसूत्र भाग 22, पृष्ठ 288
19 Jainism In Rajasthan, Page 56-57.
20 Jainism In Rajasthan, Page 58.
21 Indian Antiquary Vol. IX, page 248.
22 श्रमण भगवान महावीर भाग 5, खण्ड 2, पृष्ठ 65
23 वही
24 Jainism In Rajasthan, Page 59.
25 श्रमण भगवान महावीर भाग 5, खण्ड 2, पृष्ठ 65
26 वही, पृष्ठ 66
27 Jainism In Rajasthan, Page 60.
28 Ibid, Page 60.
29 Jain-Community - A Social Survey, Page 60.
30 श्री तपगच्छ श्रमण वंश वृक्ष, पृष्ठ 28
31 Jainism In Rajasthan, Page 69.
32 Ibid, Page 69.
33 The History of Jaina Monachism, Page 549.
34 विद्यावाणी वी.नि.सं.2498
35 यह लेख मुझे जयसिंहपुरा संग्रहालय के श्री सत्यंधरकुमारजी सेठी के सौजन्य से प्राप्त हुआ।
36 भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ 208 से 209
37 दर्शनसार, पृष्ठ 38
38 History of Jain Monachism, Page 545.

39 गुरु गोपालदास वरैया स्मृतिग्रंथ, पृ.544
40 Jainism In Rajasthan, Page 70.
41 दर्शनसार पृष्ठ 14, जैन सिद्धान्त भास्कर पृष्ठ 30, Jaina Antiquary XIII-II, page 33,
42 History of Jaina Monachism, Page 547.
43 वही, पृष्ठ 547
44 वही, पृष्ठ 547-48
45 वही, पृष्ठ 549
46 दर्शनसार, पृष्ठ 17
47 श्री सत्यंधरकुमार सेठी के सौजन्य से प्राप्त
48 उज्जयिनी दर्शन, पृष्ठ 31
49 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 44
50 वही, पृष्ठ 45
51 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 45
52 जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ 351
53 Jainism In Rajasthan, Page 88.
54 जैन सिद्धान्त भास्कर भाग 4 किरण 1 *जून 1937, पृष्ठ 35, श्री स्थानकवासी* जैनधर्म की सत्यता पृ.8 पाद टिप्पण 6, The History of Jaina Monachism, Page 440.
55 जैन सिद्धान्त भास्कर 4/9 पृष्ठ 35-36
56 Jain Community : A Social Survey, Page 56-57
57 Heart of Jainism, Page 19
58 History of Jaina Monachism, Page 440.
59 Jain Community - A Social Survey, Page 58.
60 Jainism In Rajasthan, Page 92.
61 Jain Community - A Social Survey, Page 54.
62 Jainism In Rajasthan, Page 92.
63 Jain Community - A Social Survey, Page 85.
64 जैन सिद्धान्त भास्कर, पृष्ठ भाग 14, किरण 2
65 Jain Community - A Social Survey, Page 55.
66 Jainism In Rajasthan, Page 92.
67 Jain Community - A Social Survey, Page 55-56.
68 Ibid, Page 56.
69 History of Jain Monachism, Page 448.
70 Jainism in Rajasthan, Page 93.
71 History of Jain Monachism, Page *448.*
72 History of Jain Monachism, Page 448.
73 Indian Antiquary Vol. 7, page 28.
74 Jain Community : A Social Survey, Page 54
75 Jainism in Rajasthan, Page 93.

अध्याय - 4

जैनधर्म में विभिन्न जातियां और गोत्र

आधुनिक जैन जातियां : ओसवाल, श्रीमाली, पौरवाड़, खण्डेलवाल, परवार, अग्रवाल, पल्लीवाल, हुम्मड़, बघेरवाल, नरसिंहपुरा, जायसवाल, चित्तौड़ा, नागदा, धरकट, श्रीमोड़ आदि

इनकी उत्पत्ति, उत्पत्ति का कारण, उत्पत्ति का समय, इनके विभिन्न गौत्र, स्थान, व्यक्ति व कुल के कारण।

जैन धर्म में विभिन्न जातियां और गोत्र : अन्य जातियों की भांति मालवा में जैन जाति के व्यक्तियों का भी बाहुल्य है। साथ ही इस जाति के व्यापारियों का मालवा के आर्थिक विकास में भी विशेष योगदान रहा है। मालवा की प्रमुख जैन जातियों के संबंध में यहां विचार किया जायेगा। ये जातियां मालवा ही नहीं वरन समस्त भारत में पाई जाती हैं।

(1) ओसवाल : ओसवालों की उत्पत्ति मारवाड़ के ओसिया नामक गांव में हुई। इनकी उत्पत्ति के विषय में यह कथा प्रचलित है कि यहां के निवासी अत्यधिक मांस मदिरा का सेवन करते थे। इसी समय वहां जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि का आगमन हुआ। जैनाचार्य ने इन सब व्यक्तियों की यह बुरी आदत छुड़वाने का विचार किया। राजा उप्पलदेव के एक ही पुत्र था। अपनी माया से इन जैनाचार्य ने राजकुमार को सर्पदंश करवा दिया। सारे राज्य में हा-हा कार मच गया। राजकुमार को श्मशान घाट पर ले जाया गया। ठीक इसी समय रत्नप्रभसूरि का शिष्य इन विलाप करते हुए लोगों के पास आया और बोला कि यदि आप सब हमारे गुरु महाराज का कहा मानें तो आपके राजकुमार पुनः जीवन पा सकते हैं। सभी व्यक्तियों ने तुरन्त स्वीकार कर लिया। अर्थी को आचार्य रत्नप्रभसूरि के पास लाया गया। आचार्य ने अपनी शर्त रखी कि सभी मांस मदिरा छोड़कर सात्विक जीवन व्यतीत करेंगे तथा जैनधर्म का पालन करेंगे। सभी उपस्थित व्यक्तियों ने यह स्वीकार कर लिया। आचार्य रत्नप्रभसूरि ने अपनी माया हटाली और राजकुमार जीवित हो गया। इस प्रकार राजा सहित समस्त औसिया निवासी जैनधर्म स्वीकार कर ओसवाल कहलाये।

इस घटना के समय के संबंध में तीन मत प्रचलित हैं, जो निम्नानुसार हैं:-

(1) नाभिनन्दनोधर प्रबन्ध और उपकेश गच्छचरित के अनुसार रत्नप्रभसूरि पार्श्वनाथ की परम्परा में सातवें पट्टधर थे जिन्होंने वीर निर्वाण सं.70 (457 ई. पूर्व) में ओस वंश की स्थापना की।

(2) भाटों के मतानुसार ओसवालों की उत्पत्ति रत्नप्रभसूरि के उपदेश से उपकेश नगर (मारवाड़) में वि.सं.222 (ई.सन् 165) में हुई।

(3) वस्तुस्थिति यह है कि ये दोनों ही मत सत्य एवं उचित प्रतीत नहीं होते हैं। क्योंकि आठवीं शताब्दी के पूर्व ओसवालों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। सुख सम्पतराय भण्डारी ने ओसवाल जाति की उत्पत्ति का समय विक्रम संवत 500 तथा विक्रम संवत 900 के मध्य औसिया नगरी में माना।[1] पूर्णचन्द्र नाहर ने इस जाति की उत्पत्ति का समय 500 वि.सं. के पश्चात् और वि.सं.1000 के पूर्व माना[2] और साधारणतः यही तिथि औसवालों की उत्पत्ति की मानी जाती है।

राहुल सांकृत्यायन ओसवालों का उद्भव योधेयों से मानते हैं। उनके विचार से यौधेयो ही कालांतर में ओहतगी, रस्तोगी, ओसवाल आदि कहलाये।

ओसवालों के गोत्र : ओसवाल जाति की उत्पत्ति के उपरांत इसमें 18 गोत्र बने किन्तु गोत्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही। ऐसा विश्वास है कि ओसवालों के 1444 गोत्र हैं। किन्तु ये मुख्य गोत्र नहीं हैं। ये संभवतः उनके कुनबों या कुलों के परिचायक हैं। यति श्रीपाल 609 गोत्र बताते हैं।[3] अठारहवीं सदी का कवि रूपचन्द अपने 'ओसवाल रास' में 440 गोत्र बताता है।[4] मुनि ज्ञान सुन्दर ने अठारह मूल गोत्र तथा 498 शाखयें बताई हैं।[5] उपलब्ध गोत्रों की सूची देखने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इनके पीछे कुछ सिद्धान्त हैं। कुछ गोत्रों के नाम पशु-पक्षियों से लिये गये हैं। यथा- सियाल, काग, गरूड़, हिरण, बकरा आदि।

कुछ गोत्रों के नाम निवास स्थन के आधार पर रखे गये हैं। जैसे- रामपुरिया, चित्तौड़ा, भोपाल, पाटनी आदि। कुछ नाम उनके व्यवसाय पर आधारित हैं। जैसे- भण्डारी, कोठारी, खजांची, कानूनगो, दफ्तरी आदि और कुछ गोत्र धंधे से सम्बन्धित भी हैं। जैसे- घिया, तेलिया, केसरिया, गंधी, सर्राफ आदि।[6]

अन्य जातियों के समान ओसवालों के भी दो भेद हैं। (1) बीसा ओसवाल और (2) दसा ओसवाल। इनके विभाजन और उत्पत्ति का विवरण इस प्रकार दिया जाता है। एक विधवा, विधवा नियमों के विरुद्ध एक जैन साधु के पास रहती है थी और उसमें उसे दो पुत्र हुए। दोनों पुत्र बड़े होने पर सम्पन्न हुए और

उन्होंने जाति में विधवा विवाह का नियम स्वीकार करने का दबाव डाला। एक नगर में जिसका नाम राम था, इन दोनों भाइयों ने एक विशाल भोज का आयोजन किया तथा उसमें समस्त ओसवालों को आमंत्रित किया। वहां के आसेवलों को इन दोनों भाईयों के जन्म की कथा ज्ञात नहीं थी। इस कारण सभी ओसवाल भोज में सम्मिलित होने के लिये निर्धारित स्थान पर एकत्र हो गये। जब भोजन प्रारम्भ होने वाला था तभी एक विधवा ओसवाल का पुत्र आया और उसने अपनी माता के पुनर्विवाह करने की आज्ञा चाही। तब वहां उपस्थित समुदाय ने कहा कि ऐसी बात करने के लिये उसने यहां आने का साहस क्यों किया? इस पर उसने कहा कि जिनके यहां आप भोजन कर रहे हें, वे एक ऐसी ही विधवा के पुत्र हैं जिसने विधवा होने के उपरांत विवाह किया था। इस पर समस्त उपस्थित समुदाय में उत्तेजना एवं रोष फैल गया। जिन व्यक्तियों ने भोजन छू लिया था, वे उन दो भाइयों के अनुगामी बनकर दसा ओसवाल कहलाये तथा जिन्होंने भोजन छुआ नहीं था और जो शुद्ध रहे थे वे बीसा ओसवाल कहलाये। ये जो नाम बीसा और दसा पाये जाते हैं, ये जाति के उपभेद हैं तथा जो संज्ञा बीसा या बीस और दसा या दस दी गई है, वह शुद्ध तथा अर्द्धशुद्ध रक्त से संयुक्त प्रतीत होती है।[7]

बीसा और दसा उपभेद के अतिरिक्त पांचा, अठैया आदि भेद भी मिलते हैं जिनका सम्बन्ध भी शुद्धता से ही प्रतीत होता ळै। पांचा अपनी जाति में विधवा विवाह की अनुमति देते हैं। इनसे जो निम्न हैं वे अठैया कहलाये हैं। अन्य जातिगत विवाहों में कोई बन्धन नहीं है। उदाहरण के लिये दिगम्बरी ओसवाल श्वेताम्बरी लड़की से विवाह कर सकता हे तथा जैन ओसवाल वैष्णव ओसवाल की लड़की से विवाह कर सकता है।[8] इन्दौर राज्य के इतिहास से यह विदित होता है कि यहां ओसवाल जाति के व्यक्ति उच्च पदो पर कार्यरत थे और उन्होंने वीरता एवं सम्मानपूर्वक जनता की सेवा की।[9] आज भी मालवा में ओसवाल जाति के व्यक्तियों का बाहुल्य है तथा वे व्यापार एवं शासकीय सेवा में रहकर प्रदेश की सेवा में लगे हुए हैं।

ओसवालों के गोत्रों को देखने से विदित होता है कि ये गोत्र किसी न किसी आधार को लेकर बने हैं। गोत्रों के जो आधार हैं, उनको निम्नानुसार विभक्त किया जा सकता है। यथाः- (1) स्थान के आधार पर गोत्र (2) उद्योग या व्यवसाय के आधार पर गोत्र (3) व्यक्ति के नाम के आधार पर गोत्र। आदि आदि।

(2) श्रीमाली : श्रीमाली जैनियों की उत्पत्ति मारवाड़ के श्रीमाल नगर से मानी जाती है जिसे भिनमाल भी कहते हैं इस जाति की उत्पत्ति के विषय में दो

प्रकार के विवरण मिलते हैं। एक के अुनसार वि.सं. से 400 वर्ष पूर्व श्रीमाल नगर में आचार्य स्वयंप्रभसूरि ने बहुत से हिन्दू परिवारों को जैनधर्म में परिवर्तित किया था, इसके उपरांत एक अन्य आचार्य ने और दूसरे हिन्दू परिवारों को जैनधर्म में परिवर्तित किया। यह क्रम एक लम्बे समय तक चलता रहा और श्रीमाल में जो व्यक्ति जैनधर्म में दीक्षित हुए थे वे श्रीमाली जैन कहलाये।[10] दूसरे विवरण के अनुसार लक्ष्मी को प्रसन्न करने के लिये भगवान विष्णु ने श्रीमाल में 90000 बनियों को सिरजा। एक विवरण के अनुसार ये बनिये लक्ष्मी के गहनों से बनाये गये तथा दूसरे विवरण के अनुसार लक्ष्मी की जंघा से बने।[11]

बाद में श्रीमाली जैनों में 135 गोत्र या भेद हो गये जिनके नाम 'महाजन वंश मुक्तावली'[12] में दिये गये हैं। अन्य जातियों के समान इसमें भी दो भेद हैं- (1) बीसा श्रीमाल-वृद्ध सज्जनिया (2) दशा श्रीमाल-लघु सज्जनिया और अनेक गोत्र हैं।[13] श्री दोषी[14] इनके भेद के विषय में लिखते हैं कि श्रीमाली बीसा, दसा और लाड़वा में विभक्त हैं। दसा और बीसा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन कथाएं कही जाती हैं। एक कथा के अनुसार जो श्रीमाली घूम-फिर कर विदिशा में जा बसे वे बीसा कहलाये। जो निर्देश के अनुसार बसे वे दसा कहलाये। दूसरी कथा के अनुसार जो श्रीमाली लक्ष्मी के दायी ओर से फैले वे बीसा तथा बायी ओर से आये वे दसा कहलाये। तीसरी कथा के अनुसार बीसा या बीस संख्या के अनुसार दसा या दस से दुगुनी संख्या में आये इस कारण बीसा कहलाये। निश्चय इन वक्तव्यों का कल्पना ही आधार है। लाड़वा श्रीमाली प्राचीन लाट देश (दक्षिण गुजरात) में रहने के कारण लाड़वा श्रीमाली कहलाये। बीसा श्रीमाली केवल जैनों तथा दसा श्रीमाली जैनों तथा वैष्णवों दोनों में पाये जाते हैं।

बीसा श्रीमाली के सात भेद हैं। यथा- (1) अहमदाबादी (2) उठारिया (3) पाल्हणपुरिया (4) पाटनी (5) सोरठिया (6) तलबदा और (7) धराडिया। दसा श्रीमाली के तीन भेद हैं यथा- (1) होरसठा (2) चणमहुआ और (3) इदड़िया। लाड़वा श्रीमाली में कोई भेद नहीं है। इन भेदों व उपभेदों में खानपान तो प्रचलित है किन्तु एक-दूसरे में विवाह सम्बन्ध नहीं होते हैं। कुछ प्रकरणों में दसा श्रीमाली जैन, दसा श्रीमाली वैष्णवों या दसा ओसवाल, दसा परवाड़ जैनों में वैवाहिक सम्बन्ध प्रचलित है।[15]

इसके अतिरिक्त श्रीमालियों में भी अनेक गोत्र पाये जाते हैं जो किसी व्यवसाय, व्यक्ति के नाम, स्थान या कुल के नाम या अन्य किसी आधार पर बने हैं।

मालवा में श्रीमाली जैनो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस वंश के रत्न

पेथड़शा या पृथ्वीधर तथा उसके पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्रों ने जैनधर्म की उन्नति में अपना अमूल्य योगदान दिया है। पेथड़शाह तथा उसके वंश के अन्य व्यक्ति जैसे झांझण, बाहड़, चाहड़, मंडन एवं धनदराज पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। मंडन तो मालवे के सुलतान हौशंग गौरी का प्रधानमंत्री तथा बड़ा विद्वान था। इसने विविध विषयों पर दस पुस्तकों की रचना की। धनद मंडन का चचेरा भाई था तथा इसने भर्तृहरि की शतक के अनुसार शतक त्रयी रचना की। इनके सम्बन्ध में यथा स्थान प्रकाश डाला जाएगा।

(3) पोरवाड़ : पोरवाड़ प्राग्वाट जाति का अपभ्रंश है। प्राग्वाट् जाति का मूल स्थान तो प्राग्वटपुर था जो गंगा के तट पर एक प्राचीन नगर था। वाल्मीकि रामायण में इस नगर का उल्लेख मिलता है। जब से प्राग्वाटपुर के लोग राजपूताने की ओर आये तब से वह प्राग्वाट कहलाने लगे। जैनाचार्य स्वयंप्रभसूरि ने उपदेश देकर प्राग्वाट वंश की स्थापना की। उसी प्राग्वाट वंश का अपभ्रंश 'पोरवाड़' हुआ। इनके रीति-रिवाज, खान-पान ओसवालों के समान हैं। इनकी कुलदेवी अम्बिका है।[16]

आचार्य स्वयंप्रभसूरि ने जो पद्मावती नगरी में प्राग्वट वंश की स्थापना की थी उनके साथ 'पद्मावती पोरवाड़' का खिताब है और बाद में आचार्य हरिभद्रसूरि ने कितने ही लोगों को जैन बनाकर प्राग्वाट पोरवाड़ जाति में शामिल कर दिया। उन पोरवाड़ों की तीन शाखाएं हुईं। (1) शुद्ध पोरवाड़ (2) सोरठिया पोरवाड़ और (3) कपाले पोरवाड़। इनमें भी दसा बीसा भेद है।[17]

पोरवाड़ दिगम्बरों तथा श्वेताम्बरों दोनों में पाये जाते हैं किन्तु श्वेताम्बरों में इनकी संख्या अधिक है।[18] इनकी उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है[19] कि ये गुज्जर कबीले थे जो राजा कनिष्क के साथ भारत में आये थे और पूर्वी राजस्थान में बस गये थे। कनिष्क की आज्ञानुसार ये श्रीमाल नगर की रक्षा के लिये एक बड़ी संख्या में आये थे और श्रीमाल नगर के पूर्वी ओर रुक गये थे। चूंकि ये श्रीमाल नगर के पूर्वी और रुके थे, ये प्राग्वट या पोरवाड़ कहलाये। ऐसा लगता हे कि इस जाति के लिये विक्रम की 13वीं सदी से 15वीं सदी तक प्राग्वट शब्द का सामन्य प्रचलन था।[20] पोरवाड़ 24 गात्रों में विभाजित हैं। ये स्थानों के नाम से भी जाने जाते हैं जैसे- जामनगरी; कपड़पंजी, बरुची, भावनगरी आदि आदि।

कभी कभी गलती से इन पोरवाड़ों को पोरवाल भी कह देते हैं।[21]

ठाकुर लक्ष्मणसिंह गणपतसिंह चौधरी[22] मालवा में पोरवाड़ों के इतिहास के सम्बन्ध में लिखते हैं कि मालवे में शाजापुर के जैन मंदिर में एक श्वेत पाषाण की मूर्ति पोरवाड़ पंचों की बनाई हुई वि.सं.1542 की मिली है और देवास के श्री

पार्श्वनाथ मंदिर की एक श्याम शांतिनाथ की मूर्ति सं.1191 की तथा एक छोटी ऋषभनाथ की सं.1548 की है परन्तु इन पर किसी के नाम नहीं पढ़े जाते। परन्तु पोरवाड़ों की मालवे में उपस्थिति का विश्वसनीय कोई प्रमाण वि.सं.1542 के पूर्व का अभी उपलब्ध न होने से इन लोगों का इधर आगमन काल निश्चित होना बाकी रहा है। श्रीमाली गौर मालव निवासी कई पोरवाल महाजनों को उनके आठ गोत्र बताते हैं। श्रीमाल पुराण का विश्वास किया जाय तो पोरवाड़ (प्राग्वाट) पुल्खा के भेजे हुए क्षत्रिय अवश्य थे। देवास के श्री पार्श्वनाथ मंदिर में चक्रेश्वरी के पास वाली मूर्ति पर सं.1683 का जो लेख है, उसमें पोरवाड़ तथा चौधरी गोत्र का उल्लेख है। इसी प्रकार सं.1383 वाले लेख में पोरवाड़ जाति का मालव देश में होना उल्लिखित है। चौधरी कुल देवास में शाही सेवा में था तथा प्रतिष्ठित कुल था।

जयसिंहपुरा दिगम्बर जैन संग्रहालय के एक प्रतिमा लेख में भी पोरवालों का स्पष्ट उल्लेख है।लेख वि.सं.1222 का है। इससे भी प्रमाणित होता है कि 12वीं सदी पूर्व मालवा में पोरवाड़ों का अस्तित्व था। इस प्रकार पोरवाड़ जाति का मालवा में अस्तित्व पर्याप्त प्राचीन है तथा इस जाति का उल्लेख शाही सेवा में भी आया है जिससे इसकी प्रतिष्ठा का पता चलता है।

(4) खण्डेलवाल : खण्डेलवाल जैनियों का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग है। खण्डेलवाल हिन्दुओं में भी पाये जाते हैं किन्तु अधिकतर खण्डेलवाल जैनियों में ही होते हैं। सामान्यतः समस्त खण्डेलवाल जैन दिगम्बर मतावलम्बी हैं और श्वेताम्बरों में खण्डेलवाल जाति के जैन नहीं पाये जाते। ये मालवा व राजपूताना में फैले हुए हैं। वैसे बम्बई, बिहार, उत्तरप्रदेश में भी ये बसे हैं, किन्तु इनकी कुल आबादी का तीन चौथाई भाग राजपूताना और मालवा में बसता है।[23] इनकी उत्पत्ति खण्डेला के राजा चौहान वंशी खण्डेलगिर से मानी जाती है। खण्डेला के अन्तर्गत 87 नगर थे जो विभिन्न राजपूत वंशों द्वारा शासित थे। यथा- सूर्यवंशी, सोमवंशी, हेमवंशी आदि। विक्रम की प्रथम शताब्दी में महापारी फैली जिसे रोकने के लिये तत्कालीन राजा ने, जो ब्रह्मणों के प्रभाव में था, नरबलियां दीं। जिनमें एक जैनाचार्य भी था। महामारी कम होने के बजाय अधिक तेजी से फैलने लगी। इसी समय जिनसेनाचार्य विहार करते हुए वहां पहुंचे। राजा ने बीमारी के अधिक फैलने का कारण पूछा। जिनसेनाचार्य ने कहा कि बीमारी अधिक इस कारण फैल रही है कि पूर्व में एक जैनाचार्य की बलि दी जा चुकी है। साथ ही जिनसेनाचार्य ने राजा को जैनधर्म ग्रहण करने की भी सलाह दी। तदनुसार राजा तथा 84 स्थानों के निवासियों ने जैनधर्म में दीक्षा ग्रहण करली। आचार्य

जिनसेन ने इनकी एक जाति बना दी और राजधानी खण्डेला के नाम पर इस जाति को खण्डेलवाल कहा तथा 84 नगरों में स्थिति से 84 गोत्रों की स्थापना की। इन गोत्रों, नगरों, राज्यों तथा इनके परिवारों की सूची श्रीपालचन्द्र यति की सम्प्रदाय शिक्षा तथा श्रीरामलाल की महाजन वंश मुक्तावली, पी.डी.जैन की विजातीय विवाह मीमांसा और श्री के.पी.जैन के संक्षिप्त जैन इतिहास में दी गई है।

दूसरे विवरण के अुनसार ऐसा वर्णन मिलता है कि चार सैनिक भाई थे। एक दिन वे शिकार खेलने गये और एक साधु के प्रिय हिरण को मार डाला। वह साधु उनको शाप देकर नष्ट करने जा ही रहा था कि चारों ने शिकार न करने तथा सैनिक वेश छोड़ने का वचन दिया। तब से ये खण्डेलवाल कहलाये। वर्तमान खण्डेलवालों की उत्पत्ति भी उन्हीं से हुई।[24]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि खण्डेलवाल मूल रूप से क्षत्रिय थे और बाद में व्यापारिक व्यवसाय के कारण वैश्य हो गये।[25] यह बात ध्यान देने की है कि जिस प्रकार अन्य जैन जातियों में दसा बीसा भेद है, उस प्रकार का कोई भेद खण्डेलवालों में नहीं है। मालवा में खण्डेलवाल जैन हैं।

तेरहवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में मालवा के रुलखण्पुर नामक गांव में खण्डेलवाल वंश के व्यक्तियों के रहने का उल्लेख मिलता है। इससे विदित होता है कि 12वीं सदी के मालवा में खण्डेलवाल जैनियों का अस्तित्व था।[26] इनके जो 84 गोत्र हैं वे या तो शहरों के नाम पर बने हैं या व्यक्तियों के नाम से प्रचिलत हैं। खण्डेलवाल जाति के लोग पर्याप्त धनाढ्य हैं।

(5) परवार जाति : परवार जैनियों में एक प्रसिद्ध जाति है। हिन्दुओं में भी परवार जाति होती है किन्तु अधिकांश परवार जैन धर्मावलम्बी ही हैं। जैनियों में भी विशेषकार ये दिगम्बर जैन हैं। परवार जैन उत्तरप्रदेश, राजपूताना, बिहार, बम्बई तथा मालवा में पाये जाते हैं।

परवारों की उत्पत्ति तथा नाम के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती किन्तु यह स्पष्ट है कि इस जाति की उत्पत्ति राजपूताना में ही कहीं हुई। परवारों की पहचान परवाड़ों से की जाती है, जो कि राजपूताना के हैं।[27]

परवारों में चरनागर या समैया नामक एक अलग भेद जैनों में है। यह चरनागर या समैया जाति तारणपंथी को मानने वाली छः जातियों में से एक है।

परवार स्वयं भी दो भागों में बंटे हुए हैं। यथा (1) अठशाखा परवार (2) चौशाखा परवार। इनमें अठशाखा परवारों का स्तर ऊंचा है और चौशाखा परवारों का स्तर नीचा है। यदि अठशाखा वाला, चौशाखा वाले से विवाह

सम्बन्ध स्थापित करता है तो इसकी शाखा में भी भेद आ जाएगा। इन परवारों में निम्नश्रेणी की एक जाति और होती है जो 'बिनाइकिया' कहलाती है। सागर जिले में बिनाईका नामक एक ग्राम है। किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस जाति का नाम इस गांव के आधार पर रखा गया। इसे लघु श्रेणी के नाम से भी पुकारा जाता है।[28] ये बिनाइकिया चार भागों में बंटे हुए हैं जिनमें से दो अधिक प्रसिद्ध हैं। यथा पुराने बिनाइकिया और नये बिनाइकिया। इन बिनाइकियाओं की संख्या भी पर्याप्त है तथा दिन प्रतिदिन और भी बढ़ती ही चली जा रही है।

(6) अग्रवाल : अग्रवाल जाति के इतिहास के पूर्व अग्रवाल शब्द की मीमांसा श्री गुलाबचन्द एरन[29] ने इस प्रकार की हैः-

(1) श्रीमान् पंडित अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी ने अग्रवाल शब्द का शुद्ध रूप आगरवाला लिखा है जो उसका अर्थ आगर (मालवे का एक नगर जो उज्जैन के पास है) के रहनेवाला किया है। इस प्रकार उक्त पंडितजी ने अग्रवालों का आदि स्थान मालवे का आगर नगर को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जो कि भ्रांतिमूलक है। क्योंकि आगर में ऐसा कोई भी चिह्न वर्तमान में विद्यमान नहीं जिससे आगर को अग्रवालों की जन्मभूमि कही जा सके।

(2) अग्रवाल रत्न बाबू जगन्नाथप्रसादजी रत्नाकर ने कल्पना की है कि अग्रवाल किसी समय क्षत्रिय थे और सेना के अग्रभाग की रक्षा किया करते थे, जिससे अग्रपाल कहलाते थे। यह अग्रपाल कालान्तर में अग्रवाल बन गया। निःसन्देह इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है।

अग्रवाल-अग्रपाल थे इसलिये कालान्तर में अग्रवाल बन गये- इसमें संदेह है क्योंकि सेना के वर्णन में कहीं भी अग्रपालशब्द देखने में नहीं आता। फिर यदि यह भी मान ले कि सेना के अग्रभाग के रक्षक को अग्रपाल कहते थे तो इसके साथ ही पश्चाद् भाग रक्षक का भी ऐसा ही नाम होना चाहिये। जिसके विषय में कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया।

(3) कुछ विद्वानों का कथन है कि प्राचीन समय में इस देश में सब ही लोग धर्मात्मा व अग्निहोत्री थे। प्रत्येक घर में नित्य नैमित्तिक यज्ञ हुआ करते थे। उन दिनों में यज्ञार्थ अगर की लकड़ी का बहुत व्यापार होता था। अस्तु। जिस वैश्य समुदाय ने अगर की कृषि तथा व्यापार किया वह समुदाय अगरवाला कहलाने लगा। पश्चात् अगरवाला का संस्कृत रूप अग्रवाल बना लिया गया। परन्तु यह युक्ति भी असंगत प्रतीत होती है। इसलिये अमान्य है।

(4) पंडित हीरालालजी शास्त्री ने 'अग्रवाल वैश्योत्कर्ष' नामक पुस्तक में

अग्रवाल शब्द का अर्थ अग्रेभव अग्रवालाः अर्थात् सबसे पहले होने वाले वैश्य लिखा है। परन्तु यह भी प्रमाणाभाव में प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

(5) कुछ विद्वानों ने अग्रोहा (महाराज अग्रसेन की राजधानी) से अग्रवाल शब्द का सम्बन्ध लगाकर उसका अर्थ अग्रोहावाला अर्थात् अग्रोहा के रहने वाले किया। यह अर्थ कुछ माननीय कहा जा सकता है। दूसरी जातियों के अन्त में भी 'वाल' शब्द उपयोग में लाया जाता है। जैसे खण्डेलवाल, ओसवाल, पोरवाल, मीरनवाल, पल्लीवाल आदि। इनमें वाल शब्द निवास स्थान का ही द्योतक है, यहां वाल शब्द का अर्थ रहने वाला या निवासी ही होता है जैसा कि खण्डेलावाल का अर्थ खण्डेला का रहनेवाला और पल्लीवाल का अर्थ पाली का रहनेवाला होता है। रात-दिन की बोलचाल में सुगमता लाने के ख्याल से खण्डेलवाल का विकृत स्वरूप खण्डेलवाल बन गया। इसी प्रकार अग्रोहावाला शब्द भी सुगमता के ख्याल से अग्रवाल बना लिया गया। परन्तु यदि हम अग्रोहा से अग्रवाल हुए यह मानलें तो प्रश्न होता है कि अग्रोहा का नाम अग्रोहा कैसे हुआ? यदि महाराज अग्रसेन से अग्रोहा बसा, यह मानें तो फिर अग्रवाल शब्द का भी सम्बन्ध सीधे उन्हीं से न लगाकर अग्रोहा का सहारा लेने की क्या आवश्यकता है?

(6) भारतेन्दु हरिशचन्द्र ने 'अग्रवालों की उत्पत्ति' नामक अपनी पुस्तक में अग्रवाल शब्द को अग्र-वाल इन दो शब्दों से बना हुआ माना और इसका अर्थ अग्र का बालक अर्थात् अग्रसेन की संतान किया है। कहना न होगा कि यह निष्कर्ष प्रमाणाभाव में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त संदर्भों से स्पष्ट होता है कि अग्रवाल जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं। श्री वी.ए.सांगवे का कथन है कि अग्रवाल जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में साधारणतः ऐसा विश्वास है कि ये उत्तरभारत स्थित चम्पावती नगरी के राजा अग्रसेन के वंशज है। राजा अग्रसेन के 18 पुत्र थे। जिनका विवाह नागवंश की लड़कियों से हुआ था। अग्रसेन की मृत्यु के उपरांत उनके पुत्रों ने पंजाब में अग्रोहा नामक नगर की स्थापना की और तब से ये अग्रवाल कहलाने लगे। अठारह पुत्रों के नाम से अठारह गोत्र बने, किन्तु किसी कारणवश अंतिम गौत्र आधी मानी जाती है। इस प्रकार अठारह गोत्रों के स्थान पर साढ़े सतरह गोत्र अग्रवालों में है।[30]

अन्य वणिक् जातियों की तरह ही इनमें भी दसा बीसा भेद है। इसके अतिरिक्त अग्रवालों में अब एक तीसरा भेद भी प्रकाश में आया है जो मध्य प्रान्त में 'पांचा' के नाम से परिचित है किन्तु इसकी उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं है। इन समस्त जातियों में आपस में खान-पान एवं विवाह प्रचलित नहीं है।[31]

ऐसी मान्यता है कि अग्रवालों को वि.सं.27 और 77 के मध्य श्री लोहाचार्यजी ने जैनधर्म में दीक्षित किया। ये मूलतः क्षत्रिय थे किन्तु व्यापारिक गतिविधियों के परिणामस्वरूप वैश्य माने जाने लगें ये पर्याप्त धनाढ्य होते हैं। अकबर के प्रमुख मंत्रियों में टोडरमल जिसने कि भूमि का बन्दोबस्त किया था तथा मधुशाह अग्रवाल जाति के ही थे[32], यद्यपि अनेक विद्वान उसे खत्री मानते हैं। अग्रवाल जाति का इतिहास प्राचीन गौरव से परिपूर्ण है। यह जाति पर्याप्त समृद्ध तथा भूमिपति रही है। मालवा में भी जैन अग्रवाल पर्याप्त मात्रा में निवास करते हैं।

(7) पल्लीवाल : पल्लीवाल दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों में ही पाये जाते हैं। ऐसा विदित होता है कि इस जाति का नाम राजस्थान के पाली नगर से पड़ा जिसका नाम प्राचीन काल में पल्लिका अथवा पल्ली था। ऐसा कहा जाता है कि जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि, जिन्होंने ओसिया की जनता को जैनधर्म में दीक्षित कर ओसवाल वंश की स्थापना की थी, उन्हीं आचार्य ने आठवीं शताब्दी में पल्लिका की जनता को भी जैनधर्म में परिवर्तित किया।[33] यह भी विदित होता है कि इस जाति के लोगों ने पाली से समय-समय पर निकलने वाले संघों का नेतृत्व भी किया।[34] इसके अतिरिक्त और कोई विशेष जानकारी इस जाति के विषय में नहीं मिलती है।

(8) हुम्मड़ या हुम्बड़ : हुम्बड़ जाति दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में पायी जाती है। मूल जाति का मुख्य निवास मालवा, राजपूताना, गुजरात तथा दक्षिण भारत के कुछ जिलों में है। इस जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि पाटण के भूपतिसिंह और भवानीसिंह के झगड़े को जैनाचार्य मानतुंग ने सुलझाया था। भूपतिसिंह जैनाचार्य से प्रसन्न हो गया था और सिंहासन का दावा छोड़कर जैनाचार्य का भक्त बन गया था। एक बार भूपतिसिंह ने अपने गुरु को 'हूं बड़ हूं' कहा और तभी से उसकी जाति को गुरु के द्वारा हुम्बड़ नाम दिया गया। हुम्बड़ जाति के 18 गोत्र कहे गये हैं।[35] डॉ.के.सी.जैन ने इस जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होना बताया है।[36]

इसके दूसरे विवरण के अनुसार हुमड़ नामक इस जाति ने अपने धार्मिक गुरु जिसने इस जाति की स्थापना की उससे लिया। ये बागड़िया भी कहलाते हैं। यह नाम बागड़ प्रदेश पर पड़ा। इसमें डूंगरपुर, प्रतापगढ़ और सगवाड़ का क्षेत्र शामिल है जहां इस जाति के लोग अभी भी बहुलता से निवास करते हैं।[37]

अन्य जातियों की तरह इस जाति में भी बीसा और दसा भेद है जिसके विषय में विस्तार से लिखना आवश्यक नहीं। अब हुम्बड़ जाति के दसा व बीसा भेदों में बहुत न्यून ही अन्तर रह गया है। डॉ.के.सी.जैन के अनुसार यह जाति

तीन लघुशाखा, वृहत्शाखा और वर्षावट शाखा से विभक्त है।[38]

श्री परमानंद जैन शास्त्री[39] इस जाति के महत्त्वपूर्ण कार्य बताते हुए लिखते हैं कि हुमड़वंश द्वारा निर्मित मंदिरों में सबसे प्राचीन मंदिर झालरापाटन का प्रसिद्ध शांतिनाथ का मंदिर है जिसे हुमड़ वंशीय शाह पीपा ने बनवाया था और जिसकी प्रतिष्ठा विक्रम सं.1103 में भावदेवसूरि के द्वारा सम्पन्न हुई थी। यह मंदिर बहुत विशाल है और नौ सौ वर्ष का समय व्यतीत हो जाने पर भी दर्शकों के हृदय में धर्मसेवन की भावना को उल्लासित कर रहा है। इस मंदिर में जो मूल नायक की मूर्ति है, वह बड़ी ही चित्ताकर्षक है। कहा जाता है कि साहू पीपा ने इस मंदिर के निर्माण करने में विपुल द्रव्य खर्च किया था और उसकी प्रतिष्ठा में तो उससे भी अधिक व्यय हुआ था। शाह पीपा जितने वैभवशाली थे उतने ही वे धर्मनिष्ठ और उदारमना भी थे। इनकी समाधि उसी मंदिर के पास अहाते में बनी हुई है।

इस मंदिर में एक पुराना शास्त्र भण्डार है जिसमें एक हजार हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है। चूंकि यह मंदिर नौ सौ वर्ष पुराना है, हुम्बड़ जाति का अस्तित्व भी नौ सौ वर्ा से पूर्व का होना चाहिए। कितने वर्ष पूर्व का, यह अभी विचारणीय है। पर सम्भवतः उसकी सीमा 100 वर्ष तो और है ही। ऊपर इस जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य मानतुंग का नाम आया है। ये आचार्य 7वीं, आठवीं सदी में हुए हैं। इस प्रकार हुम्बड़ जाति की उत्पत्ति भी सातवीं आठवीं सदी में कभी होना चाहिये। यह जाति काष्ठा संघ, मूल संघ दोनों की अनुगामी रही है। सरस्वतीगच्छ भी दोनों में पाये जाते हैं।

(9) बघेरवाल जाति : दिगम्बर जैन समाज की जातियों में बघेरवाल जाति का भी विशिष्ट स्थान है। इस जाति के लोग राजस्थान, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में निवास करते हैं। इस जाति का नाम राजस्थान में केकड़ा के निकट स्थित बघेरा नामक ग्राम से लिया गया है। इस ग्राम में इस समय खण्डेलवाल तथा अगरवालों के घर हैं जिनमें बारहवीं, तेरहवीं शताब्दी की कई मूर्तियां हैं।[40] इस जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भाट की पौथी के आधार पर डॉ.विद्याधर जोहरापुरकर ने इस प्रकार उल्लेख किया है- "प्रथम ढुढाड देश में राजा विक्रम के समय में कुन्दकुन्दाचार्यजी के अम्नाय में जम्बुस्वामी हुए। ये बघेरा गांव में आये। उस गांव का राजा बलिभद्र उसका बेटा बरणकुंवर और इक्यावन गांव के इक्यावन ठाकुर को उपदेश देकर बघेरवाल जाति की 52 गोत्र स्थापित करी। संवत् 111 माह बदी 11 रविवार को। कुछ कारणवश कुछ घर कैलाशगढ़ देश तरफ आया सो उनका धरम छूट गया। वहां विहार करते-करते लोहाचार्यजी काष्ठांसघ वाले

आये सो उनने उपदेश देकर धर्म में स्थापना करी, सो सत्तावीस गोत्र काष्ठा संघी हुए। संवत् 142 आसोज सुदी 14 मंगलवार को। संवत् 1241 अलिबर्दन पातस्याह के समय में चित्तौड़ में राणा रतनसिंह चौहान का कामदार पूनाजी खटोड़ था, उसने 350 घर लेकर दक्षिण में आया।[41] एक दूसरे भाट की पौथी से उल्लेख डॉ.जोहरापुरकर इस प्रकार करते हैं- "बलिभद्र राजा का पिता बाग नामक था तथा बलिभद्र के पुत्र वरुणकुवर के 52 पुत्रों से 52 गोत्र स्थापित हुए, बघेरा गांव के पास इनकी सेना में मरी का प्रकोप हुआ, तब रामदास भाट की सलाह से वे लोग समीप ही निवास करते हुए मुनि उमास्वामी, लोहाचार्य, विद्यानंद, रामसेन व नेमसेन की शरण में पहुंचे, उनके मंत्र बल से रोग शांत हुआ, तब से वे सब लोग जैनधर्म में दीक्षित हुए तथा रामदास के वंशजों को उनका कुल वृत्तांत संग्रहित करने का काम सौंपा गया।[42]

भाटों की अनुश्रुतियां तथा पद्यों में इस जाति के व्यक्तियों की जो प्राचीन तिथियां दी है वे कल्पित ही मालूम पड़ती है, क्योंकि अन्य साधनों से उनका कोई समर्थन नहीं होता। संवत् 142 में काष्ठा संघ का अस्तित्व इसमें बतलाया गया है वह तो स्पष्ट रूप से इतिहास विरुद्ध है क्योंकि काष्ठासंघ की स्थापना सं.753 में हुई ऐसा दर्शनसार में वर्णन है तथा इसके शिलालेखीय उल्लेख तो बारहवीं सदी से ही मिलते हैं। किन्तु इन अनुश्रुतियों में कुछ बातें वास्तविक भी है। बघेरवाल जाति में 52 गोत्र में 25 मूलसंघ के तथा 27 काष्ठा संघ के अनुयायी थे। इस बात का समर्थन विक्रम की अठारहवीं सदी के लेखक नरेन्द्रकीर्ति के एक पद्य से होता है। यथा[43]-

श्रीकाष्ठासंघ नाम प्रथम गोत्र पंचबीस।
मूलसंघ उपदेश गोत्र अंत सताबीस।।
बघेरवाल बद्रजाति गोत्र बावण गुण पूरा।
धर्मधुरंधरधीर परम जिन मारग सूरा।।
महधधारक भट्टारक श्री लक्ष्मीसेनय जानिये।
गुरु इन्द्रभूषण गंगसम सुगुण नरेन्द्रकीर्ति बखाणिये।।

इस जाति के लोग मूलतः राजपूत क्षत्रिय थे तथा बाद में जैनधर्म में दीक्षित हुए थे, इसका भी एक समर्थक प्रमाण है। इस जाति में प्रतिवर्ष चैत्र सु.8 तथा आश्विन सु.8 को कुलदेवी का पूजन किया जाता है जिसे दिन्हाड़ी पूजन कहते हैं। इस समय यद्यपि साधारण बघेरवाल अपने कुल देवता को पद्मावती, चक्रेश्वरी या अम्बिका यह नाम देता है तथापित भाटों के कथनानुसार (इन देवियों के नाम) बवरिया गोत्र की देवी चन्द्रसेन है, ठोल्या गोत्र की देवी चामुण्डा

है तथा भूरिया गोत्र की देवी महिकावती है। ये नाम जैनधर्म के स्वीकार करने के पहले के होना चाहिये। यह स्पष्ट ही है, क्योंकि जैन शासन देवियों में ये नाम नहीं पाये जाते।[44]

मालवा में इस जाति के लोगों के आगमन का वृतांत 12वीं सदी में मिलता है। सुप्रसिद्ध जैन विद्वान पं.आशधर, जो मोहम्मद गौरी के आक्रमणों से त्रस्त होकर 12वीं शताब्दी में मांडलगढ़ छोड़कर मालवा के मांडवगढ़ में आये थे, बघेरवाल जाति के ही थे।[45] डॉ.के.सी.जैन ने इस जाति के 7 गोत्र बताये हैं।[46]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बघेरवाल जाति 12वीं शताब्दी से मालवा में विद्यमान है। पं.आशाधर ने जैन साहित्य के विविध अंगों को जो देन दी है वह आज सभी जानते हैं।

(10) नरसिंहपुरा : यह जाति दिगम्बर मतावलम्बियों में पाई जाती है। ऐसा कहते हैं कि कुछ दिगम्बर जैन साधु जैनधर्म के प्रचारार्थ भ्रमण करते हुए मेवाड़ के नरसिंहपुरा नामक गांव में गये और इनके उपदेश से प्रभावित होकर वहां के निवासियों ने जैनधर्म स्वीकार कर लिया। गांव के नाम पर जाति का नाम नरसिंहपुरा पड़ा।[47] इसके अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेखनीय तथ्य इस जाति के सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं।

(11) जैसवाल : यह जाति भी दिगम्बर मतावलम्बियों में ही पाई जाती है। इसकी उत्पत्ति जैसलमेर से मानी जाती है। इसके सम्बन्ध में भी यही कहा जाता है कि दिगम्बर जैन साधुओं के प्रभाव से जैनधर्म स्वीकार कर लिया और स्थान के नाम पर जैसवाल जाति बन गई। इसके अतिरिक्त और कोई विशेष जानकारी इस जाति के सम्बन्ध में प्राप्त नहीं होती है।। वैसे इस जाति के व्यक्ति मालवा एवं राजस्थान में पाये जाते हैं तथा समाज में अपना स्थान भी अच्छा रखते हैं। किन्तु जिस प्रकार अन्य जैन जातियों का विशिष्ट इतिहास मिलता है उस प्रकार इस जाति का कोई विशिष्ट छोड़कर सामान्य इतिहास भी उपलब्ध नहीं है। कलाल जाति के जायसवाल अपने को अवध के 'जायस' गांव के निवासी मानते हैं जहां के पद्मावत के रचयिता सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी थे।

(12) चित्तौड़ा जाति : इस जाति की उत्पत्ति चित्तौड़ से हुई है और सम्भवतः मध्यकाल में उसका उदय हुआ। इस जाति के व्यक्ति धार्मिक स्वभाव के होते हैं। साथ ही वे धार्मिक पुस्तकें भी लिखा करते हैं और अपने आचार्यों को भेंट करते रहते हैं। इस जाति के लोगों ने कई मंदिरों का निर्माण करवाया तथा कई स्थानों पर मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई। इसका सम्बन्ध बागड़ देश के मूलसंघ तथा काष्ठासंघ से रहा।[48]

(13) नागदा जाति : जैसा नाम से ही विदित है कि इसकी उत्पत्ति मेवाड़ के नागदा नामक स्थान में हुई। अन्य बातों में यह जाति भी चित्तौड़ा जाति के समान ही है। पन्द्रहवीं सदी के भट्टारक ज्ञानभूषण ने 'नोगद्वाराव' नामक पुस्तक लिखी जिसमें जैनियों की नागदा जाति के इतिहास का वर्णन है। यह जाति भी मूलसंघ तथा काष्ठासंघ दोनों ही से सम्बन्धित है।[49]

(14) धरवट वंश : इस वंश के लोग दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों में पाये जाते हैं। धम्मपरीक्षा का लेखक हरिषेण जो कि 10वीं सदी में हुआ था, इसी जाति का था।[50] पं.नाथूराम प्रेमी इस जाति की उत्पत्ति सिरोंज से मानते हैं।[51] यह सिरोंज टोंक रियासत में था जो रियासतों के एकीकरण के बाद राजस्थान में तथा बाद में नवीन मध्यप्रदेश में सम्मिलित किया गया और विदिशा जिले में है। श्री अगरचन्द नाहटा इसकी उत्पत्ति धमड़गढ़ से मानते हैं जहां से माहेश्वरियों की धकड़ शाखा की उत्पत्ति हुई।[52]

(15) श्रीमोड़ जाति : इसे श्रीमूड़ भी कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति प्राचीन मोड़ेरा नगर जो कि अनहिलवाड़ के दक्षिण में था, से मानी जाती है। सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रसूरि इसी जाति में जन्में थे। 12वीं सदी में इस जाति का उल्लेख मिलता है।[53] मांडवगढ़ जैन मंदिर के अन्दर रही प्रतिमाओं के लेख बदनावर के श्री नंदलाल लोढ़ा ने संग्रह किये हैं। मुझे गणिवर्य श्री अभयसागरजी महाराज के सौजन्य से श्रीलोढ़ा के द्वारा संग्रहित लेख प्राप्त हुए, उनमें से एक लेख सं.1513 का है जिसमें श्रीमोड़ जाति का उल्लेख है :-

संवत् 1513 वर्ष ज्येष्ठा बदी 5 मोड़ ज्ञातीय स. लखमा लखमादे स.समधरेण भार्या मांई सुत देवीसिंग हिंगा गुणी आहा सा पावा प्रमुख कुटुम्ब युतेन सुत्रेंयसे श्री अनंत नाथादि चतुर्विंशती पट्टः आगम गच्छ श्री जयानन्दसूरि पट्टे श्री देवरन्तसूरि गुरु पादासनकारितः प्रतिष्ठापिंत्रु शुर्भभवतु सिरषिज वासल्य

यह लेख धातु की चौबीसी पर है। इस लेख से आगम गच्छ तथा एक दो आचार्यों के विषय में भी जानकारी मिलती है।। साथ ही श्रीमोड़ जाति का मालवा में अस्तित्व संवत 1513 में प्रमाणित होता है। अर्थात् अपने मूल स्थान से यह जाति सं.1513 से पूर्व निकल कर देश के अन्य भागों में फैलने लगी थी। अतः इस जाति की उत्पत्ति का समय इस सन्दर्भ से तथा पूर्वोक्त 12वीं सदी के उल्लेख से पर्याप्त प्राचीन हो जाता है। जिसे हम 8वीं 10वीं शताब्दी के आसपास तक ले जा सकते हैं किन्तु किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में हम कुछ भी निश्चित रूप से कहने की स्थिति में नहीं हैं।

मालवा में जैन जातियों का बाहुल्य तो है ही किन्तु कुछ ऐसी भी जातियां

हैं जिनकी उत्पत्ति मालवा में हुई। प्रमाणतः समस्त जैन जातियों का उत्पत्ति स्थान राजपूताना तथा मालवा रहे हैं। दूसरे जितनी भी प्रमुख जैन जातियां हैं, उनकी उत्पत्ति कोई चामत्कारिक घटना के पश्चात् बताई गई है। अब मालवा में सभी प्रकार की जैन जातियों के व्यक्ति निवास करतें हैं, जो अपने-अपने व्यापार व्यवसाय में लगे हैं। कई वंश प्रदेश के आर्थिक विकास में अपना सहयोग प्रदान कर रहे हैं। जैन जाति के व्यक्ति पर्याप्त धनाढ्य तथा भूमिपति एवं उद्योगपति हैं। प्राचीनकाल में भी हम इनकी समपन्नता पाते हैं जो व्यापार के साथ-साथ उच्च पदों पर आसीन होकर प्रदेश का गौरव बढ़ा रहे थें। साथ ही इस जाति के प्राचीनकाल में बड़े-बड़े विद्वान भी हो चुके हैं, जिनका जन्मजात सम्बन्ध मालवा से ही रहा है।

संदर्भ सूची

1 ओसवाल जाति का इतिहास, पृ.18
2 वही, पृ.18-19
3 जैन सम्प्रदाय शिक्षा, पृ.656
4 जैन भारती व्हा.9, नं.11
5 जैन जाति महोदय, प्रथम खण्ड, पृ.25, 26, 27
6 Jain Community - A Social Survey, Page 90
7 Ibid, Page 91
8 Ibid, Page 91
9 Ibid, Page 91
10 जैन जाति महोदय, अध्याय 4, पृ.92-100
11 काठियावाड़ के दसा श्रीमाली जैन बनिये, पृ.41-52
12 वही, पृ.109-110
13 जैन जाति महोदय, प्रथम खण्ड, पृ.99
14 वही, पृ.54
15 Bombay Gazetteer, Vol. IV, Part-I, Page 97-98
16 जैन जाति महोदय, प्रथम खण्ड, पृ.283
17 वही, परि.2, पृ.91
18 Jain Community - A Social Survey, Page 94
19 पोरवाल वणिकों के इतिहास, पृ.7-11, सी.एम.दलाल
20 जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह - जिनविजय, पृ.24, 43, 44, 46, 47, 70, 114 और 141
21 Jain Community - A Social Survey, Page 94
22 पोरवाड़ महाजनों का इतिहास, पृ.7, 84 से 88, 90, 91 व 133
23 Jain Community - A Social Survey, Page 96
24 गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रंथ, पृ.50
25 Jain Community - A Social Survey, Page 97
26 Ibid, Page 98
27 अग्रवाल जाति का प्रामाणिक इतिहास, पृ.1 से 4
28 Jain Community - A Social Survey, Page 87
29 Ibid, Page 97
30 जैन सिद्धांत भास्कर, अंक-1, पृ.128
31 Jainism in Rajasthan, Page 102

32 भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास, पृ.544
33 महाजन वंश मुक्तावली, पृ.112-114
34 Jainism in Rajasthan, Page 107
35 Tribes & Castes in Bombay, Vol. III, Page 442 (R.E.Enthoven)
36 वही, पृ.108
37 अनेकांत, 13/5, पृ.124-25
38 जैन साहित्य और इतिहास, पृ.344
39 अनेकांत, वर्ष 17, किरण 2, पृ.63
40 वही, पृ.62-64
41 भट्टारक सम्प्रदाय, पृ.284
42 अनेकांत, किरण 17, अंक 2, पृ.64-65
43 जैन साहित्य और इतिहास, पृ.134
44 Jainism in Rajasthan, Page 106
45 Ibid, Page 107
46 Ibid, Page 107
47 Ibid, Page 107
48 जैन साहित्य और इतिहास, पृ.468
49 वही, पृ.468
50 अनेकांत, व्हा.4, पृ.610
51 Jainism in Rajasthan, Page 108-109

अध्याय - 5

मालवा की जैन कला

भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों की भांति मालवा में भी जैन मंदिरों, जैन गुफाओं, जैन मूर्तियों तथा जैन चित्रकला के सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं किन्तु इनके लिये 'जैन कला' शब्द देना मुनासिब नहीं है। वास्तव में हमारे देश में कला तो एक ही 'भारतीय कला' के नाम से विकसित हुई है और उसके विकास की मंजिलों में ही बौद्ध, जैन आदि भिन्न रूप से अभिहित होने वाली कलाएं समाहित हैं। बौद्ध अथवा जैन शैली में से कोई भिन्न रूप भारतीय कला का नहीं है। हां प्रतिमा लक्षणों में निःसन्देह कुछ अन्तर पड़ा है। बौद्ध और जैन अथवा अन्य नामों से अभिहित किये जाने वाले अन्य सम्प्रदायों ने भी ब्राह्मण देवताओं को अपने देव वर्ग में सर्वांग से सम्मिलित कर लिया है यद्यपि वे वहां गौण पार्षदों के कार्य संपन्न करते हैं। स्वाभाविक ही उनकी अपनी-अपनी प्रतिमा-लक्षणों सम्प्रदाय विशेष में अधिष्ठित हो जाने के बावजूद बनी रहती है। स्वयं बुद्ध और जिन के कला-प्रकार ब्राह्मण कला से भिन्न नहीं, नयी मुद्राएं उनमें निश्चय उत्पन्न हो जाती है जो परिणामतः मूल और स्कंधारण में भारतीय कला के सांगोपांग विकास को ही अभिव्यक्त करती है। इस पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में यहां अध्ययन की सुविधा के लिए 'जैन कला' की संज्ञा अपनाई गयी है। अपने लक्षणों के आधार पर 'जैन मूर्तिकला' अलग हो सकती है, किन्तु वह भी भारतीय कला का ही एक अंग रहेगी। भारतीय कला से अलग उसका अस्तित्व नहीं है।

मालवा में जो जैन स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्रकला के उदाहरण प्राप्त हुए हैं, उनका विवरण इस प्रकार है-

स्थापत्य कला : भारतवर्ष में जैन स्थापत्य के प्राचीनतम अवशेष बराबर तथा नागार्जुनी पहाड़ियों की जैन गुफाएं हैं। ये पहाड़ियां गया से 15-20 मील दूर पटना गया रेलवे के बैला नामक स्टेशन से पूर्व ही ओर है। उनकी स्थिति राजगिर की पहाड़ियों के प्रायः ठीक पीछे है। बराबर की गुफाएं अशोक ने तथा नागार्जुनी की गुफाएं उसके पौत्र दशरथ द्वारा आजीवन मुनियों के लिये बनवाई गयी थी। मालवा में जैन मंदिरों तथा जैन गुफाओं के प्राचीन अस्तित्व के विषय

में बाद के साहित्य तथा किंवदन्तियों के माध्यम से जानकारी प्राप्त होती है। मालवा में प्राचीनतम गुफाएं एकमात्र उदयगिरि (विदिशा) में है। त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित पर्व 10 सर्ग 2 से विदित होता है कि चण्डप्रद्योत ने जीवंतस्वामी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा मन्दसौर में करने के लिये तथा उसकी सेवा आदि के लिये 1200 गांव दान में दिये थे किन्तु इस काल के कोई अवशेष मन्दसौर से अद्यावधि प्राप्त नहीं हुए हैं।

डॉ.डी.आर.पाटिल का कहना है कि सारंगपुर में मौर्यकालीन कोई जैन अथवा हिन्दू मंदिर नहीं है, परन्तु उनके खण्डहर अवश्य मिलते हैं।[1] डॉ.के.सी.जैन के अनुसार साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर सम्प्रति ने भी मालवा, काठियावाड़ और राजस्थान में बहुत से जैन मंदिरों का निर्माण करवाया था, किन्तु उनका अस्तित्व वर्तमान काल में नहीं है।[2] इसके अतिरिक्त शक कुषण काल में भी जैनधर्म के उन्नतावस्था में होने के साहित्यिक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। किन्तु पुरातात्विक अवशेषों की उपलब्धि के अभाव में उन्हें प्रमाण मानना कठिन है। इस काल की मूर्तियां मथुरा के आसपास पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुई है। सम्भव है भविष्य में मालवा में भी पर्याप्त उत्खनन द्वारा कुछ पुरातात्विक सामग्री इस समय की उपलब्ध हो जाय।

गुप्तकाल : इस काल हमें जैन स्थापत्य के पुरातात्विक अवशेष प्राप्त होते हैं। विदिशा के पास उदयगिरि की पहाड़ियों में बीस गुफाएं हैं। उनमें से क्रमानुसार प्रथम एवं बीसवीं नम्बर की गुफाएं जैनधर्म से संबंधित हैं। इन गुफाओं के सम्बन्ध में विद्वानों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। डॉ.हीरालाल जैन का कहना है- "पहली गुफा को कर्निंघम ने झूंठी गुफा का नाम दिया है, क्योंकि वह किसी चट्टान को काटकर नहीं बनाई गई है किन्तु एक प्राकृतिक कन्दरा है, तथापि ऊपर की प्राकृतिक चट्टान को छत बनाकर नीचे द्वार पर चार खम्बे खड़े कर दिये गये हैं, जिससे उसे गुफा मंदिर की आकृति प्राप्त हो गई है। स्तम्भ घट पत्रावली प्रणाली के बने हुए हैं, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आदि जैन मुनि इसी प्रकार की प्राकृतिक गुफाओं को अपना निवास स्थान बना लेते थे। उस अपेक्षा से यह गुफा भी ई.पू.काल से ही जैन मुनियों की रही होगी, किन्तु इसका संस्कार गुप्तकाल में हुआ, जैसा कि वहां के स्तम्भों आदि की कला तथा गुफा में खुदे हुए एक लेख से सिद्ध होता है। इस लेख में चन्द्रगुप्त का उल्लेख है, जिससे गुप्त सम्राट द्वितीय का अभिप्राय समझा जाता है और जिससे उसका काल चौथी शती का अंतिम भाग सिद्ध होता है। पूर्वी दिशावर्ती बीसवीं गुफा में पार्श्वनाथ तीर्थंकर की अतिभव्य मूर्ति विराजमान है। यह सब खंडित हो गई हैं, किन्तु उसका नागफण

अब भी उसकी कलाकृति को प्रकट कर रहा है। यहां भी एक संस्कृत का पद्यात्मक लेख खुदा हुआ है, जिसके अनुसार इस मूर्ति की प्रतिष्ठा गुप्त संवत् 106 (ई.सन् 426) कुमारगुप्त काल) में कार्तिक कृष्ण पंचमी को आचार्य भद्रान्वयी आचार्य गौशर्म मुनि के शिष्य शंकर द्वारा की गई थी। इस शंकर ने अपना जन्म स्थान उत्तर भारतवर्ती कुरुदेश बतलाया है।[3] यह सही है कि मूर्तियों अथवा अभिलेखों का गुहाओं में होना दोनों की कला-एकता सिद्ध नहीं करता, यह भी स्वीकार करना कठिन है कि निश्चयतः गुहाएं अपनी प्रतिमाओं से सदियों पूर्व की हैं। जहां उनकी चिरपूर्वता सिद्ध हो जाय वहीं यह सिद्ध मानना युक्तियुक्त होगा।

मालवा में गुप्तकालीन जैन मंदिरों के अवशेषों की उपलब्धि अभी नहीं हो पाई है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस काल जैन मंदिरों का निर्माण नहीं हुआ। कारण कि जब जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं तब की बनी उपलब्ध है हीं तब यह भी स्वीकार करना अनिवार्य उचित है कि उनको प्रतिष्ठित करने वाले मंदिर भी रहे होंगे। अभी-अभी मिली तीन जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं ने इस युग के विवादास्पद नरेश रामगुप्त की ऐतिहासिकता पर एक अंश में प्रकाश डाला है।[4]

गुफाओं की श्रृंखला में धमनार का नाम भी उल्लेखनीय है। यह दशपुर क्षेत्र का एक ऐतिहासिक स्थान है। कर्नल टाड ने यहां एक विशाल नगर होने की कल्पना की है।[5] यह स्थान मन्दसौर जिले के चन्दवासा से 3 मील की दूरी पर पूर्व की ओर स्थित है।[6] इस पहाड़ी में वास्तविक रूप से कितनी गुफाएं थीं यह कह सकना कठिन है। जब सन् 1821 में कर्नल जेम्स टाड ने यहां का निरीक्षण किया था तब उसने यहां की गुफाओं की संख्या 170 के लगभग बताई थी। फर्गुस्न ने यहां की गुफाओं की संख्या 60 और 70 के मध्य बतायी है।[7] सर अलेक्जेंडर कर्निघम भी फर्गुसन के मत से सहमत हैं।[8] श्री नागेश मेहता ने लिखा है कि 150 गुफाओं के विशाल विहार में कुछ गुफाएं ही वर्णनीय है। अन्य गुफाएं या तो ढह गई हैं या अधूरी बनवाकर छोड़ दी गई है। ये गुफाएं जिस पहाड़ी में खोदी गई है, दुर्भाग्यवश उस पहाड़ी का पत्थर लाल रेतीला है, जो चिरकाल तक स्थायी नहीं रह सकता और यही कारण है कि गुफाओं की दशा जर्जर हो गई है और प्रतिमाओं की दशा भी चिंतनीय है। इतनी गुफाओं में से 2 से 14 तक की गुफाएं आवास योग्य हैं और विशेषतः 7,10,11,12 और 14 नम्बर की गुफाएं महत्त्वपूर्ण है। इनमें से कुछ गुफाओं में रहने योग्य कमरे हैं, सभागृह है, मूर्ति स्थापित करने योग्य मंदिर है।[9] इन गुफाओं के जैन होने सम्बन्धी अपना अभिमत कर्नल टाड ने भी व्यक्त किया है। टाड का इनके संबंध में उल्लेख इस प्रकार है- यह स्तम्भ जैन आकार के बने हुए थे। आश्चर्य का विषय है कि इन मंदिरों के एक अंश में जिस

भांति शिव और विष्णु की मूर्ति विराजमान थी, इसी और अंशों में भी दक्षिणांशों में जैनियों के विग्रह चिह्न विराजमान थे। इनके पास ही गुफाओं में जैन और बहुतसी बौद्धों की मूर्तियां थी। कोई खड़ी थी, कोई बैठी थी, परन्तु इसकी दक्षिण ओर महाभारत में विख्यात पाण्डवों के चिह्न विराजमान थे।

सौभाग्य से मेरे साथ मेरे जैन गुरु थे, इन्होने कहा कि ये पंच मूर्तियां जैनियों के पंच तीर्थंकरों की है। ऋषभदेव प्रथम, संतनाथ (शांतिनाथ) षोडश, नेमनाथ बाईसवे, पार्श्वनाथ तेईसवे और महावीर चौबीसवें, ये पंच जैन देवता की पंच मूर्तियां हैं। ये पांच पांडवों की मूर्ति नहीं है। चन्द्रप्रभ की मूर्ति भी वहां दिखाई दी। सभी मूर्ति दस ग्यारह फीट ऊंची थी। वास्तव मे यह पंच जैन देवता की मूर्तियां है या पांच पांडवों की मूर्तियां है, इस स्थान पर विचार करना असम्भव हो गया है।

उस गुफा के पास ही धमनार में एक और बड़ी गुफा है। पहली गुफा के भीतर से ही उस गुफा में जाने का रास्ता हैं। वह सर्वसाधारण में भीम के राजा के नाम से विदित है। इस गुफा की लम्बाई 100 फीट और चौंड़ाई 80 फीट है गुफा का प्रधान कमरा भीम के अस्त्रागार के नाम से पुकारा जाता था, एक बाहर की कोठरी के रास्ते से इसमें जाना होता है, वह कोठरी 20 फीट की है, अस्त्रागार की गुफा के भीतर एक घर है। वह घर 30 फीट लम्बा और 15 फीट चौड़ा है, उस कमरे के चारों ओर धर्मशाला बनी है। तीर्थयात्री यहां आकर ठहरते हैं। यद्यपि यह भी भीम के नाम से विख्यात है, परन्तु अन्यान्य लक्षणों से जैनियों की प्रमाणित होती है। अस्त्रागार के पास ही राजलोक नाम का एक कमरा है, यह पहाड़ आदिनाथ के नाम से विख्यात है। इससे भी विश्वास होता है कि यहां आदिनाथ की पूजा होती रही होगी। एक स्थान में पार्श्वनाथ की भी दो मूर्तियां हैं।[10] टाड के इस उल्लेख से विदित होता है कि यह स्थान सभी धर्मों का समन्वय स्थापित करता है। एलोरा के गुहा मंदिरों में भी यह समन्वय दर्शनीय है। शैव, वैष्णव, जैन और बौद्ध धर्म आदि के विषय में टाड की स्वीकारोक्ति है। इन गुफाओं का समय फर्गुसन के अनुसार पांचवी छठी शताब्दी है।[11] डॉ.एच.वी.त्रिवेदी ने इनका समय सातवीं शताब्दी बताया है।[12]

अब विचारणीय यह है कि क्या इन गुफाओं के सम्बन्ध में टाड का मत मान्य है? फर्गुसन ने इन गुफाओं को बौद्ध स्थापत्य के अन्तर्गत रखा है।[13] इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया में भी धमनार की गुफाओं को बौद्ध धर्म से सम्बन्धित माना है।[14] यह एक विचारणीय विषय बन जाता है। जैनतीर्थ सर्वसंग्रह भाग-2 के लेखक ने तो धमनार को जैनतीर्थ के रूप में स्वीकार कर उसका

तीर्थरूप में वर्णन किया है।

बैसनगर में इस युग के जैन मंदिर होने की सम्भावना श्री डी.आर.पाटिल ने व्यक्त की है।[15]

राजपूत काल : राजपूत काल मालवा में जैनधर्म की उन्नति का मूर्धन्य काल है जैसा प्राप्त पुरातात्विक अवशेषों के आधार पर प्रमाणित होता है। पद्मावती, नरवर, चन्देरी, उज्जैन आदि से मध्यकालीन अवशेष बड़ी संख्या में मिले हैं। विदिशा जिले में बरो या बड़नगर नामक स्थान पर जैन मंदिरों का एक समूह दर्शनीय है। इस मंदिर समूह के बाहर नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका की एक छः फुट ऊंची मूर्ति रखी है। मंदिर शिखर शैली के हैं जिनका निर्माण परमारों के शासनकाल में हुआ। तीर्थंकरों की अनेक प्रतिमाएं यहां बाद में रखी गई। कुछ मंदिरों के प्रवेशद्वार अत्यंत आकर्षक हैं। द्वार स्तम्भों पर गंगा यमुना की मूर्तियां बनी हुई है। जैन मंदिर समूह के पीछे शिव, सूर्य, लक्ष्मी, भैरव नवग्रह आदि की अनेक मूर्तियां लगी हैं।[16] डॉ.डी.आर.पाटिल ने मध्यभारत में जैनधर्म से संबंधित 89 स्थानों का अस्तित्व बताया है।[17] चन्देरी तथा बड़वानी एवं अन्य स्थानों पर चट्टानों को काटकर बनाई हुई प्रतिमाओं के प्रमाण भी मिलते हैं। बड़ोद पठारी में विभिन्न प्रकार के पच्चीस जैन चैत्य हैं। अनुमान है कि इनका निर्माण नवीं शती से 12वीं शती के मध्य हुआ होगा। जैनियों के चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियां इनमें स्थापित हैं। कुछ मंदिर गुम्बद वाले हैं, कुछ पर चौरस छते हैं। दक्षिण दिशा की पंक्ति में मुख्य देवालय के अतिरिक्त कुछ अन्य देवालयों पर भी शिखर हैं। दो तीन मंदिरों पर ग्यारहवीं शताब्दी के संस्कृत अभिलेख हैं, जो यात्रियों द्वारा उत्कीर्णित हैं।[18] ग्यारसपुर में उपलब्ध जैन मंदिर अपने मूलरूप में अन्य धर्म से सम्बन्धित थे, किन्तु जैन धर्मावलम्बियों ने बाद में उन पर अपना अधिकार कर लिया।[19] ग्यारसपुर में प्राप्त जैन मंदिर के भग्नावशेष मालवा में प्राप्त अन्य जैन मंदिरों के भग्नवावशेषों से प्राचीन है। यहां के मंदिरों का मण्डप विद्यमान है और विन्यास एवं स्तम्भों की रचना शैली खजुराहों के समान है। फर्गुसन ने इनका निर्माण काल 10वीं शताब्दी के पूर्व निर्धारित किया है। यही पर एक और मंदिर के अवशेष मिले थे किन्तु उस मंदिर का जीर्णोद्धार हुआ तो उसने अपनी मौलिकता ही खो दी। फर्गुसन के मतानुसार ग्यारसपुर के आसपास के समस्त प्रदेश में इतने भग्नावशेष विद्यमान है कि यदि उनका विधिवत् संकलन एवं अध्ययन किया जाय तो भारतीय वास्तुकला और विशेषतः जैन वास्तुकला के इतिहास के बड़े रिक्त स्थान की पूर्ति की जा सकती है।[20]

खजुराहो शैली के ही कुछ जैन मंदिर 'ऊन' नामक स्थान पर प्राप्त हुए हैं।

यह स्थान खरगोन के पश्चिम में स्थित है। ऊन के दो तीन अवशेषों को छोड़कर शेष की स्थिति ठीक है, वे दो तीन अवशेष एक ठेकेदार द्वारा ध्वस्त कर दिये गये और इनके अवशेषों का उपयोग सड़क निर्माण में कर लिया गया। उत्तरी भारत में खजुराहों को छोड़कर इतनी अच्छी स्थिति में ऐसे मंदिरों से संपन्न दूसरा स्थान नहीं है। ऊन के मंदिरों की दीवारों पर की कारीगरी खजुराहों से कुछ कम है, किन्तु शेष सब बातों में सरलता से ऊन के मंदिरों की तुलना खजुराहों से की जा सकती है। खजुराहों के समान ही ऊन के मंदिरों को भी दो प्रमुख भागों में विभक्त किया जा सकता है यथा (1) हिन्दू मंदिर और (2) जैन मंदिर।

ऊन में एक राज्याधिकारी द्वारा दक्षिण पूर्वी सतह पर खुदाई करने पर वहां कुछ पुरानी नींव और बहुत बड़ी मात्रा में जैन मूर्तियां निकली थी। उनमें से एक मूर्ति पर विक्रम संवत् 1182 या 1192 अर्थात् सन् 1125 या 1135 का लेख खुदा हुआ है, जिससे विदित होता है कि यह मूर्ति जैनाचार्य रत्नकीर्ति द्वारा निर्मित कराई गई थी। डॉ.हीरालाल जैन[21] का मत है कि मंदिर पूर्णतः पाषाण खण्डों से निर्मित चपटी छत व गर्भगृह और सभा मण्डपयुक्त तथा प्रदक्षिणापथ रहित है, जिससे प्राचीनता सिद्ध होती है। भित्तियों और स्तम्भों पर सर्वांग उत्कीर्णन है, जो खजुराहों की कला से मेल खाता है। चतुर्द्वार होने से दो मंदिर चौबारा डेरा कहलाते हैं। खम्बों पर की कुछ पुरुष स्त्री रूप आकृतियां श्रृंगारात्मक अतिसुन्दर और पूर्णतःसुरक्षित है। यद्यपि इस चौबारा डेरा मंदिर का शिखर ध्वस्त हो गया है फिर भी उनके सुन्दरतम अवशेषों में से एक है। मण्डप के सम्मुख ही एक बड़ा बरामदा है, किन्तु आसपास कोई बरामदा नहीं है। मण्डप आठ स्तम्भोवाला वर्गाकार है, मध्य में गोल गुम्बद तथा चार द्वार हैं जिनमें से देवालय की ओर, पूर्व की ओर, पश्चिम वाले द्वार की ओर, तथा शेष बचा हुआ चौथा द्वार मंडप की ओर है। देवालय छत रहित है, लेकिन दिगम्बर मूर्तियां हैं, उनमें से एक पर विक्रम संवत् 13(124) का लेख उत्कीर्ण है।

इस मंदिर से कुछ ही दूरी पर एक दूसरा जैन मंदिर है जो आजकल ग्वालेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। इसका यह नाम इसलिये पड़ा कि यहां ग्वाले प्रतिकूल मौसम (गर्मी, वर्षा) में आश्रय लेते हैं। इसकी रचना शैली आदि भी चौबारा डेरा मंदिर जैसी ही है। इस मंदिर में भी दिगम्बर जैन मूर्तियां हैं। मध्यवाली प्रतिमा साढ़े बारह फुट के लगभग ऊंची है। कुछ मूर्तियों पर लेख भी उत्कीर्ण है जिनके अनुसार वे विक्रम संवत् 1263 या ईसवी सन् 1206 में भेंट की गई थी। यहां पर उसी प्रकार की सीढ़ियाँ बनी हुई है जिस प्रकार की सीढ़ियाँ खजुराहो की ऋषभदेव प्रतिमा के पास और गिरनार में बनी है। ये मंदिर 11वीं

और 12वीं शताब्दी के आसपास निर्मित हुए हैं।[22] यह स्थान जैनियों का तीर्थस्थान है तथा इसे ऊन पावागिरिजी भी कहते हैं। पावागिरि विषयक चर्चा हमने जैन तीर्थ वाले अध्याय के अन्तर्गत की है।

मन्दसौर के समीप थड़ोद स्टेशन से 2-3 मील की दूरी पर स्थित बही पारसनाथ (ग्राम बहीखेड़ा) श्वेताम्बर जैनियों का तीर्थस्थान है। यहां के जैन मंदिर की दीवारों और छत पर अच्छी चित्रकारी है। दरवाजे की चौखट पर 12वीं सदी का नामवाला एक लेख भी है। यह पार्श्वनाथ का मंदिर लगभग 1000 वर्ष पूर्व बना प्रतीत होता है।[23] यहां के स्तम्भों पर जो उत्कीर्णन हैं वह चित्तौड़गढ़ स्थित चौबीसी की कला से मेल खाता है।

मांडव और धार में भी जैन मंदिरों का बाहुल्य था, किन्तु अब सब नष्ट हो चुके हैं। कुछ मंदिरों का उपयोग मस्जिदों के रूप में कर लिया गया ह। मांडव में आज भी अनेक भग्नावशेष विद्यमान है। उनकी वास्तविकता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। परमार काल में संगमरमर के जैन मंदिर का निर्माण हुआ था।[24]

उज्जैन जिले के ग्राम उन्हेल में एक खण्डहर के एक कोने में कुछ उत्कीर्णित शिलाखण्ड तथा प्रतिमाएं हैं। यद्यपि इन सब शिलाखण्डों को सिन्दूर से पौत रखा है किन्तु कुछ प्रतिमाएं सिन्दूर लगा होने के बाद भी अपनी दिगम्बरावस्था स्पष्ट रूप से प्रकट कर रही है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये पाषाण खण्ड जैन मंदिर के हैं। ये पाषाण खण्ड 11वीं 12वीं शताब्दी के हैं। अतः यह स्वीकार करना हेगा कि 11वीं 12वीं शताब्दी में उन्हेल में भी दिगम्बर जैन मंदिर का अस्तित्व था।

देवास जिले की सोनकच्छ तहसील के ग्राम गंधावल में जैनधर्म से संबंधित सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। गंधावल में जैन मूर्तियां खेतों, कुओं, उद्यानों एवं घरों की दीवारों में जहां बिखरी हुई है। गंधावल में प्राप्त जैन मंदिरों के अवशेषों का परिचय इस प्रकार है।[25]

(1) भवानी का मंदिर : यह जैन मंदिर है और इसका निर्माण काल 10वीं शताब्दी है। यहां भगवान पार्श्वनाथ सहित अनेक प्रतिमाएं विद्यमान हैं।

(2) दरगाह : दरगाह के नाम से परिचित स्थान पर वर्धमान की मूर्ति को लपेटे हुए वटवृक्ष है, जहां और भी जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं हैं।

(3) सीतलामाता का मंदिर : यहां चक्रेश्वरी, गौरी, यक्ष, नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका, आदिनाथ वर्धमान की खड्गासन मूतियां, शीतलनाथ की यक्षी माननी पार्श्वनाथ, किसी तीथंकर का पादपीठ, दसवें तीर्थंकर का यक्ष ब्रह्मेश्वर, एक तीर्थंकर का मस्तक तथा अनेक शिलापट जो एक चबूतरे में जुड़े हुए हैं उन पर तीर्थंकरों की मूर्तियां अंकित हैं, एक तीर्थंकर मूर्ति का ऊपर का

भाग जिसमें सुरपुष्प वृष्टि प्रदर्शित है, वर्द्धमान की मूर्ति। इस प्रकार यह स्थान महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

(4) गंधर्वसेन का मंदिर : इस मंदिर में एक प्रस्तर खंड पर पार्श्वनाथ को उपसर्ग के बाद केवलज्ञान प्राप्ति का दृश्य अंकित है। यह प्रस्तर खण्ड दसवीं शताब्दी से पूर्व और परवर्ती गुप्तकालीन विदित होता है।

राजगढ़ नगर से पूर्व में 14 किलोमीटर की दूसरी पर स्थित कालीपीठ ग्राम भी अपने गर्भगृह में उल्लेखनीय पुरातात्विक अवशेष छिपाये हुए है। यहां प्राप्त जैनधर्म संबंधी अवशेषों का विवरण इस प्रकार है:-

कालीपीठ राजगढ़ सड़क से गांव में प्रवेश करते ही मार्ग में दाहिनी ओर एक खेत में विशालकाय जैन प्रतिमाओं के भग्नावशेष पड़े हुए हैं। इसके आसपास तीन बावड़ियां बनी हुई हैं। निकट ही भग्न मंदिर के स्तम्भावशेष पड़े हुए हैं। इन्हें देखकर लगता है कि कभी यहां एक विशाल मंदिर इस भू-भाग पर रहा होगा। खेत में पड़ी हुई जैन मूर्तियों में से एक मूर्ति 118 इंच लम्बी 32 इंच चौड़ी तथा 18 इंच मोटी है। इसकी दोनों भुजाएं खण्डित है। इसके दोनों ओर ढाई फुट ऊंची दो चवरधारियों की मूर्तियां हैं। मूर्ति के ऊपरी भाग में दो हाथी भी अंकित हैं। महावीर की दूसरी मूर्ति 70 इंच लम्बी तथा प्रथम मूर्ति के सदृश ही है। ये दोनों मूर्तियां तथा समीप में पड़े हुए स्तम्भावशेष उस युग की याद दिलाते हैं जबकि हिन्दू, बौद्ध तथा जैन मंदिरों में कोई अन्तर नहीं रह गया था। इन तीनों धर्मों की मूर्तियों और मंदिरों के शिल्प एक समान थे। खुदाई करने पर किसी भी पुरातत्ववेत्ता द्वारा मंदिर के अवशेष तथा स्थान की प्राचीनता के अन्य कई तथ्यों को प्रकाश में लाया जा सकता है। कालीपीठ में जैन प्रभुत्व 12वीं सदी के अन्त तक तो रहा ही होगा।

गुना जिले के ग्राम बजरंगगढ़ स्थित दिगम्बर जैन मंदिर[26] के महत्त्व को इस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है:-

यह मंदिर मूलतः नागर शैली का पंचायतन मंदिर रहा होगा। खजुराहों, ऊमरी, देवगढ़, अहार, बानपुर आदि की तरह इसका निर्माण भी पाषाण से हुआ होगा और शिखर संयोजना कभी इसकी धवलकीर्ति पताका से अलंकृत रही होगी। बाद में इसका शिखर नष्ट हो जाने पर मंदिर के उसी अधिष्ठान पर वर्तमान गुम्बद शिखर सहित आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व इस मंदिर का जीर्णोद्धार या पुनः निर्माण हुआ होगा।

धरातल से लगभ 15 फुट तक का मंदिर का अधिष्ठान आज भी अपनी अपरिवर्तित अवस्था में देखा जा सकता है। मंदिर की छत तथा द्वार का ऊपरी

तोरण भी मंदिर का वही प्राचीन तोरण है जो मंदिर के साथ बनाया गया था। इन अवशेषों की कला से और मूर्ति लेखों से इस मंदिर का निर्माणकाल तेरहवीं शताब्दी का आरम्भ माना जा सकता है।

इस युग के अनेक और भी जैन मंदिरों के उल्लेख मिलते हैं तथा अनेक ग्रामों में मंदिरों के अवशेष भी मिलते हैं। कई मंदिरों की प्राचीनता उनके पुनर्निर्माण के परिणामस्वरूप लुप्त हो गई है।

जैन मूर्तिकला : जैन प्रतिमाओ का आविर्भाव जैनों के तीर्थंकरों से हुआ। तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का प्रयोजन जिज्ञासु जैनों में न केवल तीर्थंकरों के पावन जीवन धर्म प्रचार और कैवल्य प्राप्ति की स्मृति ही दिलाना था, वरन तीर्थंकरों के द्वारा परिवर्तित पथ के पथिक बनने की प्रेरणा भी।[27]

जैन प्रतिमाओं की विशेषताएं : तीर्थंकरों की प्रतिमोद्भावना में वराहमिहिर की वृहत्संहिता के निम्नांकित वक्तव्य में जैन प्रतिमा की विशेषताओं का उल्लेख मिलता है:-

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्क प्रशान्त मूर्तिश्च।
दिग्वास्तरुणों रूपवाश्च कार्योऽहेतां देवः।।

अर्थात् तीर्थंकर विशेष की प्रतिमा प्रकल्पन में लम्बे लटकते हुए हाथ, श्री वत्स लाच्छन, प्रशान्तमूर्ति, नग्न शरीर, तरुणावस्था ये पांच सामान्य विशेषताएं हैं। इनके अतिरिक्त दक्षिण एवं वाम पार्श्व में क्रमशः एक यक्ष और एक यक्षिणी का भी प्रदर्शन आवश्यक है। तीसरे अशोक वृक्ष (अथवा आम्रवृक्ष जिसके नीचे बैठकर 'जिन' विशेष ने ज्ञान प्राप्त किया) के साथ अष्टप्रातिहार्यो दिव्य तरु, आसन, सिंहासन तथा आतपत्र, चामर, प्रभामण्डल, दिव्यदुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि एवं दिव्यध्वनि) में से किसी एक का प्रदर्शन भी विहित है।[28]

जैन देवों के विभिन्न वर्ग : 'आचार दिनकर' के अनुसार जैनों के देव एंव देवियों की तीन श्रेणियां हैं:- (1) प्रासाद देवियां (2) कुल देवियां (तांत्रिक देवियां) तथा (3) सम्प्रदाय देवियां। यहां यह स्मरण रहे कि जैनों के दो प्रधान सम्प्रदायों दिगम्बर एव श्वेताम्बर के देवताओं एवं देवियों की एक परम्परा नहीं है। तान्त्रिक देवियां श्वेताम्बर सम्प्रदाय की विशेषता है।

जैनों के प्राचीन देववाद में चार प्रधान वर्ग हैं:- (1) ज्योतिषी (2) विमानवासी (3) भवनपति तथा (4) व्यन्तर।

जैनधर्म में सभी तीर्थंकरों की समान महिमा है। जैन प्रतिमाओं की दूसरी विशेषता यह है कि 'जिनो' के चित्रण में तीर्थंकरों का सर्वश्रेष्ठ पद प्रकल्पितहोता है।

जैन प्रतिमा की तीसरी विशेषता गन्धर्व साहचर्य है। गुप्तकालीन प्रतिमाएं एक नवीन परम्परा की उन्नायिका है। यक्षों के अतिरिक्त शासन देवताओं का भी उनमें समावेश किया गया है। धर्मचक्र मुद्रा का भी यहीं से श्रीगणेश हुआ है।

तीर्थंकरों के जो विशेष चिह्न निर्धारित हैं, वे जो यक्ष, यक्षिणी प्रत्येक तीर्थंकर के अनुचर ठहराये गये व जिन चैत्यवृक्षों का उनके केवल ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित किया गया उसका विवरण इस प्रकार है[29]:-

क्रं.	तीर्थंकर	नाम चिह्न	चैत्यवृक्ष	यक्ष	यक्षिणी
1	ऋषभनाथ	बैल	न्यग्रोथ	गोवदन	चक्रेश्वरी
2	अजितनाथ	गज	सप्तपर्ण	महायक्ष	रोहिणी
3	संभवनाथ	अश्व	शाल	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति
4	अभिनंदननाथ	बंदर	सरल	यक्षेश्वर	वज्रशृंखला
5	सुमतिनाथ	चकवा	प्रियंगु	तुम्बुख	वज्रांकुश
6	पद्मप्रभु	कमल	प्रियंगु	मातंग	अप्रतिचक्रेश्वरी
7	सुपार्श्वनाथ	नंद्यावर्त	शिरीष	विजय	पुरुषदत्ता
8	चन्द्रप्रभु	अर्द्धचन्द्र	नागवृक्ष	अजित	मनोवेगा
9	पुष्पदन्त	मकर	अक्ष(बहेड़ा)	ब्रह्म	काली
10	शीतलनाथ	स्वस्तिक	धूलि(मालिवृक्ष)	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी
11	श्रेयांसनाथ	गेंडा	पलाश	कुमार	महाकाली
12	वासुपूज्य	भैंसा	तेंदू	षणमुख	गौरी
13	विमलनाथ	शूकर	पाटल	पाताल	गांधारी
14	अनंतनाथ	सेही	पीपल	किन्वर	वैरोटी
15	धर्मनाथ	वज्र	दधिपर्ण	किंपुरुष	सोलता
16	शांतिनाथ	हरिण	नंदी	गरूड़	अनंतमति
17	कुंथुनाथ	छाग	तिलक	गंधर्व	मानसी
18	अरहनाथ	तगरकुसुम	आम्र	कुबैर	महामानसी
19	मल्लिनाथ	कलश	कंबेली (अशोक)	वरुण	जया
20	मुनिसुव्रताथ	कूर्म	चम्प	भ्रकुटि	विजया
21	नमिनाथ	उत्पल	बबुल	गौमेध	अपराजिता
22	नेमिनाथ	शंख	मेषशृंग	पार्श्व	बहुरूपिणी (अम्बिका)
23	पार्श्वनाथ	सर्प	धव	मातंग	कुष्माडी
24	महावीर	सिंह	शाल	गुह्यक	पद्मासिद्धायिनी

जैन प्रतिमाओं के विकास में भी सर्वप्रथम प्रतीक परम्परा ही मूलाधार है।

आयागपटों पर चित्रित जिन प्रतिमा इसका प्रबल निदर्शन है। आयाग पट एक प्रकार के प्रशस्तिपत्र अथवा गुणानुकीर्तन पत्र है। इनमें जिन प्रतिमाएं लाञ्छन शून्य है। कुषाणकालीन जैन प्रतिमाएं प्राचीनतम् निदर्शन है।[30]

मालवा में जैन प्रतिमाएं प्रचुर मात्रा में एक कलाकारिता लिये हुए प्राप्त हुई है। साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर हमें विदित होता है कि चण्डप्रद्योत ने जीवंतस्वामी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा मन्दसौर में करने हेतु एवं उसकी सेवा आदि के लिये 1200 गांव दान में दिये थे।[31] किन्तु इस काल के कोई अवशेष प्राप्त नहीं होते। श्री दे.रा.पाटिल का कहना है कि सारंगपुर में कोई जैन अथवा हिन्दू मंदिर नहीं है, परन्तु उनके खण्डहर अवश्य मिलते हैं।[32] इसका अर्थ यह हुआ कि वहां जैन प्रतिमाएं भी होना चाहिये थी जो नहीं हैं शक-कुषाण काल में जैनधर्म उन्नतावस्था में था, यह विदित होता है, किन्तु इसके प्रमाण में हमें कोई पुरातात्विक अवशेष अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं। सम्भवतः भविष्य में कहीं उपलब्ध हो जाय।

गुप्तकाल : इस युग में सभी धर्मों की उन्नति के समान अवसर मिले। मालवा में जैनधर्म सम्बन्धी पुरातात्विक अवशेष भी हमें सर्वप्रथम इसी समय से मिलने लगते हैं। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व चौथी शताब्दी की तीन तीर्थंकरों की अत्यन्त दुर्लभ प्रतिमाएं विदिशा के निकट बैसनदी के तटवर्ती एक टीले की खुदाई करते समय प्राप्त हुई है। ये तीनों मूर्तियां बलूए पत्थर की बनी है। इन तीनों की चरण चौकियों पर गुप्ताकालीन ब्राह्मी लिपि तथा संस्कृत भाषा में लेख उत्कीर्ण थे। एक मूर्ति का लेख पूर्णतया नष्ट हो चुका है। दूसरी मूर्ति का लेख आधा बचा है और तीसरी का पूरा सुरक्षित है।[33] लेखों के अनुसार इन मूर्तियों का निर्माण महाराजाधिराज श्रीरामगुप्त के शासन काल में हुआ। एक प्रतिमा पर आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का और दूसरे पर नवें तीर्थंकर पुष्पदन्त का नाम लिखा है। मूर्तियों की निर्माण शैली ईसवी चौथी शती के अंतिम चतुर्थांश की कही जा सकती है। इन मूर्तियों में कुषाणकालीन तथा ईस्वी 5वीं शती की गुप्तकालीन मूर्तिकला के बीच के युग के लक्षण द्रष्टव्य है। मथुरा आदि से प्राप्त कुषाणकालीन बौद्ध और तीर्थंकर प्रतिमाओं की चरण चौकियों पर सिंहों जैसा अंकन प्राप्त होता है वैसा इन तीन मूर्तियों पर लक्षित है। प्रतिमाओं का अंक विन्यास तथा सिरों के पीछे अवशिष्ट प्रभामण्डल भी अन्तरिम काल के लक्षणों से युक्त है। इनमें उत्तरगुप्तकालीन अलंकरण का अभाव है।[34]

लिपिविज्ञान की दृष्टि से भी ये प्रतिमालेख ईस्वी 4थी शती के ठहरते हैं। इन लेखों की लिपि गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उन लेखों से मिलती है जो सांची और उदयगिरि की गुफाओं में मिले हैं।[35]

रामगुप्त के नाम के पहले उसकी उपाधि 'महाराजाधिराज' दी गई है। इससे स्पष्ट है कि वह गुप्तवंशी सम्राट था और इस प्रकार यदि रामगुप्त की समुद्रगुप्त के इस नाम के पुत्र- देवीचन्द्रगुप्तम् के रामगुप्त- से एकता स्थापित हो सके तो इस नई खोज से भारतीय इतिहास की एक बड़ी समस्या का समाधान हो जाता है। इन मूर्तियों की प्राप्ति से यह सिद्ध हो गया है कि ईस्वी चौथी शती में विदिशा में वैष्णवधर्म तथा बौद्धधर्म के साथ जैनधर्म का भी विकास हो रहा था।[36]

श्री बी.एस.गाई ने इन तीनों प्रतिमाओं के लेखों को इस प्रकार प्रकाशित किया है।[37]

प्रथम प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख -

(1) भगवती-र्हत (।) चन्द्रप्रभस्य प्रतिमैर्य कारिता म
(2) हारजाधिराज श्री रामगुप्तैन उपदेशात् पाणिपा
(3) त्रिक चन्द्रक्षमाचार्य क्षमण श्रमण प्रशिष्य आचा
(4) र्य सर्पसेन क्षमणं शिष्यस्य गोलक्यान्त्यासतपुत्रस्य चैल् क्षमस्येति।।

द्वितीय प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख -

(1) भगवती - (।) पुष्पदन्तस्य प्रतिमैर्य कारिता म
(2) हाराजाधिराज श्रीरामगुप्तैन उपदेशात पाणीपात्रिक
(3) चन्द्रक्षम (णाचा) र्य (क्षमण) श्रमण प्रशि (स्य)
(4) - तिा

तृतीय प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख -

(1) भगवती - र्ह (तह) (चन्द्र) प्रभस्य प्रतिमैर्य (का) रीता महा (राजा) धिरा)ज)
(2) श्री (रामगुप्तै) न क (पदेशात - पा) णी (पात्री)
- -
- -

श्री उमाकांत पी.शाह का कहना है कि इन लेखों से नये जैनाचार्यों की जानकारी मिलती है। क्षमाचार्य या क्षमणाचार्य और क्षमण श्रमण जो शाब्दिक नामावली दी गई है वह रोचक है और ऐसा लगता है कि इनका एक ही अर्थ होगा। हमें यह भी सोचना होगा कि क्षमण का अर्थ क्षपण या क्षपणक की ओर इंगित करता है? क्षमणाचार्य का अर्थ जैन श्रमण की ओर भी या अन्य धर्मों के श्रमण के विरुद्ध प्रयुक्त किया गया हो, यह भी एक अर्थ लिया जा सकता है। सर्पसेन जो नाम आया है, वह नागसेन के लिये प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि नागसेन दिगम्बर जैन साधुओं के मध्य प्रचलित था।[38] श्री आर.सी.अग्रवाल का कहना है कि ये तीनों प्रतिमाएं गुप्तकालीन भारतीय मूर्तिकला की अमूल्य निधि है।

मूर्तियों की चरण चौकियों पर रामगुप्त की उपाधि 'महाराजाधिराज' संदेहों के बावजूद उसे एक गुप्त सम्राट सिद्ध करती है। शैली के आधार पर इन की मूर्तियों को कुषाण और गुप्तकाल के मध्य में रखा जा सकता है तथा तिथि के हिसाब से चौथी सदी के अन्त में इनका समय निर्धारित किया जा सकता है।[39]

विदिशा नगर के समीप ही उदयगिरि की प्रसिद्ध गुफाओं में बीस गुफा मंदिर है। इसमें क्रम के अनुसार प्रथम एवं बीसवें नम्बर की गुफाएं जैनधर्म से संबंधित हैं। बीसवें नम्बर की गुफा में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा थी किन्तु अब वह प्रतिमा इस गुफा में नहीं है। पार्श्वनाथ की वह मूर्ति भी इस काल की मूर्तिकला के लिये ध्यान देने योग्य है। दुर्भाग्यतः मूर्ति खंडित हो चुकी है तथापि उसके ऊपर का नागफण अपने भयंकर दांतों से बड़ा प्रभावशाली और अपने देव की रक्षा के लिये तत्पर दिखाई देता है।[40] उदयगिरि की ये गुफाएं गुप्तसम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में खुदवाई गई थी।[41]

विक्रम विश्वविद्यालय पुरातत्व संग्रहालय में भी कुछ जैन प्रतिमाएं है जिनमें कायोत्सर्ग से एक छोटी करीब 4 इंच की मिट्टी की प्रतिमा प्राप्त हुई है जो कि जैन प्रतिमा मानी जा सकती है। मस्तक के ऊपर उष्णीसयुक्त केश दर्शाये गये हैं तथा भगवान की मुद्रा सम-भंग दिखाई देती है। प्रतिमा लक्षणों के आधार पर इसका समय ईसा की 4थी या 5वीं शताब्दी माना जाता है।[42]

इस काल की जैन प्रतिमाओं के अस्तित्व का उल्लेख हमें मन्दसौर में भी मिलता है। मन्दसौर के खिलचीपुर के पार्श्वनाथ मंदिर की दीवार में लगी हुई द्वारपालों की प्रतिमाएं गुप्तकालीन है।[43]

प्रो.कृष्णदत्त वाजपेयी का कथन है कि मध्यभारत के भूखण्ड में विदिशा, उज्जैन, ग्वालियर, पद्मावती, नरवर सुरवाया, चंदेरी तथा ग्यारसपुर में जैन स्थापत्य और मूर्तिकला संबंधी सामग्री बड़े परिमाण में उपलब्ध है।[44]

मध्यभारत के पूर्वोक्त स्थानों में मिली हुई बहुतसी प्रतिमाएं ग्वालियर के पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित है। इनमें तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के अतिरिक्त अन्य जैन देवी-देवताओं की भी मूर्तियां हैं। पांचवी शती की जैन तीर्थंकर की एक प्रतिमा के सिर के पीछे अलंकृत प्रभामण्डल है। इस प्रतिमा की ऊंचाई छः फुट और वह कायोत्सर्ग मुद्रा में है। यह मूर्ति विदिशा से प्राप्त हुई है। भगवान ऋषभनाथ की उत्तरगुप्तकालीन एक अत्यन्त भावपूर्ण प्रतिमा इस संग्रहालय में है। वे ध्यान मुद्रा में स्थिरचित्त आसीन है। चौकी पर विकसित अर्द्धकमल और सिंहासन के दोनों ओर सिंह उत्कीर्ण है। नागों तथा यक्ष यक्षियों की गुप्त एवं प्राग् गुप्तकालीन अनेक प्रतिमाएं विदिशा, पवाया (प्राचीन पद्मावती) मन्दसौर तुमैन आदि स्थानों से प्राप्त हुई

है।[45] इस प्रकार सम्पूर्ण गुप्तकालीन मालवा में जैनधर्म का अच्छा विकास हो रहा था जिसके परिचायक प्राप्त होने वाले ये पुरातात्विक अवशेष हैं।

राजपूत काल : राजपूतकालीन मालवा में जैन कलावशेषों की संख्या बहुत अधिक है। ग्वालियर के प्राचीन दुर्ग में जैन तीर्थंकरों की विशालकाय प्रतिमाओं का निर्माण इसी काल में हुआ। इनमें से कुछ कायोत्सर्ग मुद्रा में उकेरी गयी है अन्य पद्मावती पर ध्यान मुद्रा में। यहां अनेक सर्वतोभद्र प्रतिमाएं भी मिली हैं। पद्मावती, नरवर, चन्देरी उज्जैन आदि से मध्यकालीन जैन अवशेष बड़ी संख्या में मिले हैं। बरो या (बड़-नगर) नामक स्थान पर जैन मंदिरों का एक समूह दर्शनीय है। इस मंदिर समूह के बाहर नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका की एक छः फुट ऊंची मूर्ति रखी है। मंदिर शिखर शैली के हैं और इनका निर्माण परमारों के शासनकाल में हुआ। तीर्थंकरों की अनेक प्रतिमाएं यहां बाद में रखी गई। कुछ मंदिरों के प्रवेश द्वार अत्यन्त आकर्षक हैं। द्वार स्तम्भों पर गंगा यमुना की मूर्तियां बनी है। जैन मंदिर समूह के पीछे शिव, सूर्य, लक्ष्मी, भैरव, नवग्रह आदि की अनेक मूर्तियां लगी हैं। विदिशा जिले का महत्त्वपूर्ण स्थान ग्यारसपुर है। यहां पहाड़ी के ऊपर अनेक हिन्दू मंदिर बने हैं। कलादेवी के मंदिर में यक्षिणी अम्बिका तथा तीर्थंकरों की कई प्रभावोत्पादक प्रतिमाएं हैं।[46]

इस समय का जैन मूर्तियों की दृष्टि से एक और महत्त्वपूर्ण स्थान गंधावल या गंधर्वपुरी है। यह स्थान देवास जिले की सोनकच्छ तहसील में लगभग 5-6 मील उत्तर की ओर एक छोटी नदी के तट पर स्थित है। यहां जैन तथा हिन्दू दोनों ही धर्मों के देवालयों के अवशेष प्राप्त होते हैं। इस स्थान पर उपलब्ध जैन प्रतिमाओं का परिचय नीचे दिया जाता है।[47]

(1) भवानी मंदिर : यह जैन मंदिर 10वीं शताब्दी का है। यहां चरणेन्द्र पद्मावती सहित पार्श्वनाथ धर्मचक्र सहित और सिंहलाञ्छन और मातंग यक्ष तथा सिद्धायनी यक्षिणी सहित एक खण्डित महावीर स्वामी का पादपीठ दशमी शताब्दी का है। प्रथम तीर्थंकर की यक्षिणी चक्रेश्वरी सिद्धायनी सहित वर्द्धमान, पार्श्वनाथ की मूर्ति के ऊपरी भाग में है। द्वारपाल, एक शिलापट्ट तीर्थंकरों का विद्यादेवियों सहित, देवियां कुण्डिका सहित प्रदर्शित की गई है। छत के शिलाखण्ड की चौकोर वेदी में कीर्तिमुख प्रदर्शित किये गये है। खड्गासन में वर्द्धमान प्रतिमा और उसके ऊपर पार्श्वनाथ की मूर्ति स्तम्भ पर अंकित है। खड्गासन वर्द्धमान चमरेन्द्र तथा छत्र त्रयादि प्रतिहार्यों सहित। एक शिलापट्ट चौबीस तीर्थंकरों सहित। शांतिनाथ, इसके नीचे दानपति और प्रतिष्ठाचार्य भी प्रणाम करते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। शांतिनाथ हस्तिपदारूढ़, चतुर्भुज इन्द्र, पद्मप्रभु, सुमतिनाथ,

मातंग और सिद्धायनी सहित वर्द्धमान आदि। द्वारपाल वीणा सहित, चार यक्ष, मातंग यक्ष और शौधनिधि सहित।

(2) उपर्युक्त भवानी मंदिर से 50 फीट दक्षिण पूर्व में नैमिनाथ की मूर्ति है तथा आदिनाथ का मस्तक भाग, एक यक्ष और वर्द्धमान की मूर्ति है।

(3) दरगाह : यहां वर्द्धमान महावीर की मूर्ति को लपेटे हुए एक बड़ का वृक्ष है। इस स्थान पर निम्नांकित मूर्तियां है।

(1) सिद्धायनी और मातंगयक्ष सहित वर्द्धमान (2) अम्बिका यक्षी और सर्वाण्ह यक्ष खड्गासन (3) चक्रेश्वरी आदिनाथ (4) द्वारपाल, (5) यक्ष यक्षी वर्द्धमान (6) वर्द्धमान (7) पार्श्वनाथ (8) नैमिनाथ (9) शिव, यक्ष श्रेयासनाथ (10) त्रिमुख यक्ष संभवनाथ (11) त्रिमुखयक्ष (12) धर्मचक्र गौमुख यक्ष और चक्रेश्वरी।

शीतलामाता का मंदिर : यहां चक्रेश्वरी, गौरी यक्ष, नेमिनाथ की यक्ष यक्षी (अम्बिका)। आदिनाथ, वर्द्धमान की खड्गासन मूर्तियां, शीतलनाथ की यक्षी माननी, पार्श्वनाथ, किसी तीर्थंकर का मस्तक तथा अनेक शिलापट्ट जो एक चबूतरे में जड़े हुए हैं उन पर तीर्थंकरों की मूर्तियां अंकित है, एक तीर्थंकर मूर्ति का ऊपर का भाग जिसमें सुरपुष्पवृष्टि प्रदर्शित है तथा वर्द्धमान की मूर्ति है।

(5) हरिजनपुर : यह एक नया मंदिर है जिसकी दीवारों पर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, सुमतिनाथ और मातंग यक्ष की आकृतियां अंकित है।

(6) चमरपुरी की मात : यह एक प्राचीन टीला है। यहां इमली के वृक्ष के नीचे जैन मूर्तियां दबी हुई है। 12 फुट की एक विशाल तीर्थंकर मूर्ति चमरेन्द्रो सहित सम्भवतः वर्द्धमान की है। नैमिनाथ और अम्बिका की मूर्तियां भी है।

(7) गंधर्वसेन का मंदिर : इस मंदिर में एक प्रस्तरखण्ड पर पार्श्वनाथ को उपसर्ग के बाद केवलज्ञान प्राप्ति का दृश्य अंकित है। यह प्रस्तर खण्ड दसवी शताब्दी से पूर्व और परगुप्तकालीन मालूम होता है। इसके अतिरिक्त वर्द्धमान और आदिनाथ की मूर्तियां हैं।

गंधावल की ही कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतिमाओं का उल्लेख इस प्रकार किया जाता है[48]:-

(1) तीर्थंकर प्रतिमा : गंधावल की प्रतिमाओं में तीर्थंकर की यह विशाल प्रतिमा जो लगभग साढ़े ग्यारह फुट ऊंची है, अपना विशेष स्थान रखती है। प्रस्तुत प्रतिमा में जो यद्यपि अत्यधिक खण्डित है, जैन प्रतिमा की प्रायः सभी विशेषताओं का अत्यन्त कलात्मक ढंग से समावेश कर कुशल कलाकार ने अपनी कार्य चतुरता का परिचय दिया है। प्रशान्त मूर्ति के वक्षस्थल पर श्रीवत्स प्रतीक है।

(2) तीर्थंकर प्रतिमा : तीर्थंकर की यह द्वितीय प्रतिमा जो 6 फुट के लगभग ऊंची है, इस समय वहां के पंचायत कार्यालय के समीप स्थित है। उपर्युक्त प्रतिमा की भांति इसमें भी तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं। मूर्ति के शीश के पीछे प्रभावली भी खण्डित हो गई है। इसके दोनों ही ओर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े तीर्थंकरों के मध्य ध्यान मुद्रा में बैठे अन्य तीर्थंकरों के लघु चित्रण उत्कीर्ण है। मुख्य प्रतिमा के पैरों के पास चंवरधारी सेवक मूर्त है।

(3) पार्श्वनाथ : जैनियों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की यह प्रतिमा त्रिछत्र के नीचे सर्प के सात फणों की छाया में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी है। सर्प के फण भगवान का मुख तथा उनके हाथों की उंगलियां आदि टूट गये हैं। शीश के दोनों ओर उड़ते हुए मालाधारी गंधर्व है जिनके ऊपरी एवं निचले भागों में ध्यानस्थ तीर्थंकरों की लघु प्रतिमाएं हैं। पैरों के समीप चंवरधारी सेवकों के साथ उनके यक्ष तथा यक्षी धरणेन्द्र एवं पद्मावती का भी सुन्दर अंकन किया गया है।

(4) चक्रेश्वरी : प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की शासनदेवी चक्रेश्वरी की यह अद्वितीय प्रतिमा गंधावल से प्राप्त जैन प्रतिमाओं के विशेष स्थान रखती है। प्रस्तुत प्रतिमा के बीस हाथों में से अधिकतर हाथ खण्डित हो गये हैं। किन्तु शेष हाथों में अन्य आयुधों के साथ दो हाथों में चक्र पूर्ण रूप से स्पष्ट है जिनके पकड़ने का ढंग विशेष ध्यान देने योग्य है। प्रतिमा अनेक आभूषणों से सुसज्जित है। शीश के पीछे प्रभामंडल है जिसके दोनों ओर विद्याधर युगल निर्मित है। प्रतिमा के ऊपरी भाग में बनी पांच ताकों में तीर्थंकरों की ध्यानस्थ प्रतिमाएं हैं। इनके दाहिने पैर के समीप वाहन गरूड़ अपने बाये हाथ में सर्प पकड़े हुए है और बाई ओर एक सेविका की खण्डित प्रतिमा है।

(5) अम्बिका : अम्बिका तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षिणी है। अभाग्यवश इस सुंदर एवं कलात्मक प्रतिमा का अब केवल ऊपर का भाग ही शेष बचा है। वह कानों में पत्र कुण्डल तथा गले में हार पहिने है। अम्बिका अपने दाहिने हाथ में, जो पूर्ण रूप से खण्डित हो चुका है, सम्भवतः आम्रलुम्बी पकड़े थी और बाया हाथ जिसमें एक बालक था, का कुछ भाग बचा है। आम्रवृक्ष जिसके नीचे अम्बिका का चित्रण है, पर आम के फलों के साथ उसके खाने वाले वानरों को भी स्पष्ट दिखाया गया है। प्रतिमा के एकदम ऊपरी भागों में शीश रहित ध्यान मुद्रा में तीर्थंकर की प्रतिमा है जिनके दोनों ओर मालाधारी विद्याधर अंकित है। यह मूर्ति पूर्ण होने पर कितनी सुन्दर रही होगी इसकी अब केवल कल्पना ही की जा सकती है।

भानपुरा की समतल भूमि के पास ही जहां से नवाली को गाड़ी का मार्ग जाता है, चैनपुरा नामक एक गांव है। यहां से कुछ दूरी पर एक दीर्घकाय दिगम्बर

जैन प्रतिमा है। इस प्रतिमा की ऊंचाई 13$^{1/4}$ फुट है और चौड़ाई 3$^{3/4}$ फुट है। प्रतिमा अपूर्ण-सी जान पड़ती है उस पर टांकी के चिह्न स्पष्ट परिलक्षित हैं। जान पड़ता है कि शिल्पी ने उसे गढ़ने के पश्चात् नहीं सुधारा। शिल्पी मूर्ति पर सफाई नहीं कर सका। यहां के लोग इसे सतमासिया कहते हैं।[49]

नवीं से 12वीं शताब्दी के मध्य बने जैन मंदिर बड़ोहपठारी में प्राप्त होते हैं। यहां चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएं हैं।[50]

मन्दसौर जिले के खोर नामक स्थान पर एक प्रतिमा मिली है जिसके विषय में लिखा है कि अभी कुछ दिनों पहले खोर में एक जैन प्रतिमा प्राप्त हुई है जो अखण्ड है और काले पाषाण की है। कुछ लोगों का मत है कि उक्त मूर्ति शांतिनाथ तीर्थंकर की है और कुछ उस मूर्ति को बुद्ध की मानते हैं परन्तु नागेश मेहता[51] का मत है कि यह जैन प्रतिमा ही है। शांतिनाथ की मूर्तियां प्रायः काले पाषाण की ही बनी प्राप्त होती है, बुद्ध भगवान की नहीं। फिर मूर्ति के परिकर आदि विधान से वह जैन प्रतिमा ही सिद्ध होती है।

राजगढ़ जिले के ग्राम कालीपीठ में कुछ जैन मूर्तियां मिली है जिनका विवरण इस प्रकार है-

खेत में पड़ी हुई जैन मूर्तियों में से एक मूर्ति 118 इंच लम्बी, 32 इंच चौड़ी तथा 18 इंच मोटी है। दूसरी दोनों भुजाएं खण्डित है। इसके दोनों ओर ढाई फीट ऊंची दो चंवरधारियों की मूर्तियां हैं। मूर्ति के ऊपरी भाग में दो हाथी भी अंकित है। महावीर की दूसरी मूर्ति 70 इंच लम्बी तथा समीप में पड़े हुए स्तम्भावशेष उस युग की याद दिलाते हैं जबकि हिन्दू, बौद्ध तथा जैन मंदिरों में कोई अन्तर नहीं रह गया था।

कालीपीठ में जैन प्रभुत्व 12 सदी के अंत तक तो रहा ही होगा। एक जैन मूर्ति के पैर की आधार शिला पर अंकित शिलालेख से पता चलता है कि संवत् 1189 ई. सन् 1132 में सवालाख साहू शोणदेव नामक व्यक्ति ने उस मूर्ति तथा मंदिर का निर्माण कराया होगा।

पश्चिमी नेमाड़ के ऊन नामक स्थान पर एक राज्याधिकारी द्वारा खुदाई करते समय वहां कुछ पुरानी नींव व बहुत बड़ी मत्रा में जैन मूर्तियां निकली थी। उनमें से एक मूर्ति पर विक्रम संवत् 1182 या 1192 अर्थात् ईस्वी सन् 1125 या 1135 का लेख खुदा हुआ है। जिसके द्वारा यह विदित होता है कि यह मूर्ति आचार्य रत्नकीर्ति के द्वारा निर्मित की गई थी।[52] यहां के ग्वालेश्वर मंदिर में दिगम्बर मूर्तियां हैं। मध्यवाली प्रतिमा साढ़े बारह फुट के लगभग ऊंची है। कुछ मूर्तियों पर लेख भी उत्कीर्ण है जिसके अनुसार वे वि.सं.1263 अर्थात् ई.सन् 1206 में भेंट की गई थी।[53]

तीर्थ क्षेत्र लक्ष्मणी में एक खेत में से 14 मूर्तियां मिली। इन मूर्तियो में से कुछ प्रतिमाओ का वर्णन इस प्रकार है[54]-

चरमतीर्थाधिपति महावीर स्वामी की 32 इंच बड़ी प्रतिमा सर्वांग सुन्दर श्वेतवर्ण वाली है। उसके ऊपर लेख नहीं है। परन्तु प्रतिमा प्राचीन जान पड़ती है। अजीतनाथ प्रभु की 15 इंच बड़ी प्रतिमा बेलू रेती की बनी हुई दर्शनीय एवं प्राचीन है।

पद्मप्रभु की प्रतिमा 37 इंच बड़ी है। वह भी श्वेतवर्णी परिपूर्णांग है, इस प्रतिमा का लेख मंद पड़ जाने से 'संवत् 1013 वर्ष वैशाख सुदि सप्तभ्यां' केवल इतना ही पड़ा जाता है। मल्लिनाथ एवं नेमिनाथ की 26 इंच बड़ी प्रतिमाएं भी उसी समय की प्रतिष्ठित प्रतीत होती है। इस लेख से इन तीनों प्रतिमाओं की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है।

आदिनाथ की 27 इंच और ऋषभदेव स्वामी की 13-13 इंच बड़ी बादामी वर्ण की प्रतिमाएं कम से कम 700 वर्ष प्राचीन प्रतीत होती है। साथ ही तीनों प्रतिमाएं एक ही समय की लगती है। आदिनाथ स्वामी की प्रतिमा पर जो लेख उत्कीर्ण है वह इस प्रकार है-

'संवत् 1310 वर्ष माघ सुदि 5 सौम दिन प्राग्वाट ज्ञातीय मंत्री गोसल तस्य चि.मंत्री गंगदेव तस्य पत्नी गांगदेवी तस्य पुत्र मंत्री पदम तस्य भार्या मांगल्या प्र.।'

शेष पाषाण प्रतिमाओं के लेख बहुत ही अस्पष्ट हो गये हैं। परन्तु उनकी बनावट से जान पड़ता है कि ये प्रतिमाएं भी पर्याप्त प्राचीन है। उपर्युक्त प्रतिमाएं प्राप्त होने के उपरांत पार्श्वनाथ स्वामी की एक छोटीसी धातु प्रतिमा चार अंगुल की निर्गत हुई इसके पृष्ठ भाग पर लिखा है कि-

'संवत् 1303 आ.शु. 4 ललित सा.'

बजरंगगढ़ जिला गुना के दिगम्बर मंदिर की प्रतिमाएं भी उल्लेखनीय है। इस मंदिर का निर्माणकाल यहां के अवशेषों की कला और मूर्ति लेखों से तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

इस मंदिर के द्वार तोरण पर दोनों ओर दो-दो हाथ ऊंची खड्गासन प्रतिमाएं अवस्थित है। इन पर कुछ लेख भी अंकित है जो अत्यन्त अस्पष्ट हो जाने से पढ़े नहीं जाते हैं। शासन देवियों के द्वारा ये तीर्थंकर पहिचाने जा सकते हैं। इस तोरण में आदि मंगल स्वरूप आदिनाथ का भी मनोहर अंकलन है। *परिक्रमा में बाह्यभित्ति पर बायीं ओर एक खड़ा हुआ यक्ष तथा अर्द्ध पर्यंक आसन* बैठी हुई यक्षी प्रतिमा है। पीछे की ओर एक चतुर्भुजी यक्षिणी है, जिसके हाथों में कमल, नागपाश, कमण्डलु और अभयमुद्रा है। इसी के ऊपर एक अस्पष्ट चक्र तथा नवग्रह बने हैं। दोनों ओर दो-दो हाथ ऊँची दो मूर्तियां देवी अम्बिका और

उनके यक्ष की है। अम्बिका की गोद का बालक, सवारी का सिंह और उनके गले में वैजयंतिमाल स्पष्ट दृष्टव्य है। दाहिनी ओर आदिनाथ की देवी चक्रेश्वरी की ललितासन चतुर्भुज सुन्दर मूर्ति है। इसके हाथों के चक्र दर्शनीय बन पड़े हैं। पार्श्व में इनका यक्ष गोमुख भी अपने आयुध में और वाहन के साथ अंकित है। इस यक्ष युगल के ऊपर एक अन्य यक्षिणी मूर्ति दो हाथ ऊंची अष्टभुजी खड़ी हुई बनी है जो अपने रूप सज्जा और अनुपात के कारण अत्यन्त सुन्दर और मनोहारिणी लगती है। शरीर का त्रिभंग तो दर्शनीय है। हाथों में अक्षमाला, तूणीर, नागपाश, शंख, अंकुश, धनुष तथा श्रीफल धारण किये हुए इस प्रतिमा के अलंकरण में पगपायल, कटिबंध, हार, कुण्डल, भुजबन्ध, मणिवलय, मोहनमाला, वैजयंतिमाला तथा जटामुकुट आदि सब स्व स्थान पर अंकित हैं। मूर्ति का एक दाहिना हाथ खंडित है तथा दोनों ओर नारियल से ढके हुए कलश स्थापित है जो मंगल प्रतीक है।[55]

गर्भगृह में तीनों चक्रवर्ती तीर्थंकरों शांति, कुंथु और अरहनाथ की विशाल पीठिका में सं.1236 फाल्गुन सुदि 5 प्रतिष्ठापितम यह लेख अंकित है। सिंहासन के बीच में धर्मचक्र तथा दोनों ओर क्रमशः गज, सिंह, अश्व आदि का अंकन है। तीनों प्रतिमाओं के सिंहासन पृथक्-पृथक् हैं।

बड़ी मूर्ति के नीचे शासनदेवी की छवि भी अंकित है। परन्तु उस पर पोते गये सिन्दूर के कारण उसका स्वरूप अस्पष्ट हो गया है। इन प्रतिमाओं की एक विशेषता यह है कि इन तीनों में अपने-अपने चिह्नों के अतिरक्त हिरण का अंकन भी पाया जाता है। मूर्तियों के गले की रेखाएं तथा उदर भाग की त्रिबली का उभार साधारण से कुछ अधिक लगता है तथा श्रीवत्स का अंकन अत्यधिक उभार के कारण अपनी उत्तर मध्यकालीन कला का सही प्रतिनिधित्व करता है। प्रतिमाओं के दोनों ओर हाथी पर खड़े हुए चमरधारी इन्द्रों का अंकन है। ऊपर की ओर पुष्पमाला, हाथ में लेकर उड़ते हुए विद्याधर दोनों मूर्तियों में है, परन्तु बड़ी प्रतिमा में इनका अभाव है। छत की पद्म शिला से स्पष्ट होता हे कि वहां तक यह मंदिर अपनी आदि स्थिति में ही अवस्थित है।

इस मंदिर की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता इसमें प्राप्त चौबीसी की वे कतिपय प्रतिमाएं हैं जो अपनी पीठिका में अंकित शासनदेवी मूर्तियों के कारण अपना अति विशिष्ट स्थान रखती है। यें मूर्तियां केवल छः है, शेष नष्ट हो गई प्रतीत होती है। एक हाथ ऊंची इन सभी प्रतिमाओं का आकार, प्रकार, गठन, सज्जा और परिकर प्रायः समान है और इनमें चिह्न भी अंकित नहीं किये गये हैं परन्तु शासन देवियों के कारण इनकी निश्चित पहिचान बहुत आसान है। सभी

मूर्तियों के नीचे धर्मचक्र और सिंह बने हैं तथा उनके नीचे एक पृथक् कोष्ठक में वाहन और आयुध सहित इन शासन देवियों का स्पष्ट अंकन हुआ है। यदि यह चौबीसी पूरी उपलब्ध होती तो निश्चित ही मूर्तिशास्त्र की इस विधा का एक सबल और जीवन्त प्रमाण यहां उपलब्ध हुआ होता। इन छोटी-छोटी प्रतिमाओं के पार्श्व में तथा ऊपर भी अन्य छोटी तीर्थंकर मूर्तियां अंकित है तथा छत्र के ऊपर गजाभिषेक और फिर शिखर का प्रतीक देकर हर मूर्ति को एक स्वतंत्र मंदिर का प्रतीक बनाया गया है।[56]

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के पुरातत्व संग्रहालय की महत्त्वपूर्ण जैन प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है[57]:-

तीर्थंकर स्वामी की भग्न प्रतिमा : लगभग 10वीं शताब्दी की यह भग्न प्रतिमा बहुत ही सुन्दर तथा मूर्तिकला के क्षेत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यह संग्रहालय की सबसे सुन्दर जैन प्रतिमा है। प्रतिमा में तीर्थंकर के मस्तक *तथा ऊपर का ही भाग शेष है। इसमें महापुरुष के लक्षण भी प्रत्यक्ष दिशाई देते* हैं। भगवान के चेहरे के दोनों ओर नृत्य करते हुए यक्ष तथा यक्षिणी है। इनके ऊपर सवार सहित दो हाथी बहुत ही सुन्दर बनाये गये हैं। दोनों हाथियों के मध्य में दो पुरुष वाद्य बजाते हुए भी अंकित किये गये हैं।

तीन देवियों की प्रतिमाएं : श्याम पाषाण की बनी हुई ये तीनों देवी प्रतिमाएं खड़ी हुई दिखाई गई है। खड़ी हुई स्थिति मूर्ति विज्ञान में समभंग मुद्रा कहलाती है। मध्यवाली प्रतिमा अभिवादन मुद्रा में है। इस स्त्री प्रतिमा में अलंकरण हार, तथा अन्य मालाओं का उपयोग किया गया है। इनकी विशेषता यह है कि इसमें परमारकालीन तिथि में उन स्त्रियों का नाम लिखा है, वे नाम ये हैं:- (1) वंदी पद्मा (2) साहूणिसावित्री (3) वंदी माऊ। इन नामों से ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य स्त्री वह है जिसने मंदिर बनवाया हो तथा आसपास की स्त्रियां उसकी बन्दी होगी ऐसा श्री वाकणकर का मत है।

चक्रेश्वरी देवी की प्रतिमा : इस प्रतिमा में देवी के आठ हाथ बनाये गये हैं। प्रो.भट्टाचार्य के अनुसार दिगम्बर जैन धर्म में चक्रेश्वरी देवी के आठ हाथ बतलाये जाते हैं तथा श्वेताम्बर मतानुसार चक्रेश्वरी देवी के बारह या चार हाथ बताये जाते हैं। अतः यह प्रतिमा दिगम्बर मानी जाती है। प्रतिमा के पांच हाथ भग्न हो चुके हैं। शेष तीनों हाथों में देवी चक्र लिये हुए हैं। देवी पद्मासन मुद्रा में गरूड़ के ऊपर विराजमान है। गरूड़ मानवाकृति में प्रदर्शित है। चक्रेश्वरी देवी के मस्तक के ऊपर तीर्थंकर को पद्मासन तथा ध्यान मुद्रा में दिखा गया है। एक वृक्ष और दो वानरों का अंकन भी सुन्दर बन पड़ा है। प्रतिमा के उप पीठ के दोनों ओर

एक पुरुष तथा एक स्त्री को देवी की पूजा करते हुए बताया गया है। मध्यभाग में नवगृह का अंकन है जिसमें सूर्य, सौम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहू तथा केतु प्रदर्शित किये गये हैं और सूर्य को बहुत ही सुन्दर रूप में प्रदर्शित किया गया है।

चिन्तामणि पार्श्वनाथ : यह प्रतिमा काले पाषाण की है। इसके लेख के अनुसार यह प्रतिमा संवत् 1223 में बनाई गई थी। भगवान पद्मासन मुद्रा में है तथा महापुरुष के लक्षण भलीभांति दिखाई देते हैं। प्रतिमा के वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न साथ ही निचले भाग में आलेखन भी है जिसमें अष्टकोण फूल बहुत ही सुन्दर है। यह यद्यपि श्रीवत्स चिह्न व ऊपर से लगी आंखों के कारण श्वेताम्बर प्रतिमा लगती है पर लेख में मूलसंघ का उल्लेख उसे दिगम्बर सिद्ध करता है।

ध्यानमग्न तीर्थंकर प्रतिमा : यह प्रतिमा लगभग 12वीं शताब्दी की मानी जाती है। यह ओखलेश्वर उज्जैन से प्राप्त हुई थी और शिप्रा नदी के मध्य पानी में पड़ी थी। प्रतिमा अत्यन्त प्रमाणबद्ध है। सम्भवतः मुस्लिम आक्रमण के भय से इसे नदी में डाल दिया गया हो।

भग्न ऋषभदेव प्रतिमा : इस प्रतिमा का निचला भाग ही बचा हुआ है। इस प्रतिमा में सं.1299 का लेख उत्कीर्ण है जो इस प्रकार है:-

संवत् 1299 चैत्र सुदी 6 शने आचार्य श्री सागरचन्द्र श्री खंडिलवालानवये सा. (साहू) भरहा भार्या गौरी प्रणमति नियंः।

इस प्रतिमा की विशेषता यह है कि यह पद्मासन मुद्रा में है तथा पैरों के निकट ही बहुत सुन्दर नन्दि, जो भगवान ऋषभदेव का चिह्न है, उत्कीर्ण है।

इस संग्रहालय में कुछ प्रतिमाएं स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। ऐसी प्रतिमाओं में चिन्तामणि पार्श्वनाथ की प्रतिमा 11वीं शताब्दी की लक्षणों के आधार पर है जो समभंग मुद्रा में प्रदर्शित की गई है। हाथ घुटनों से कुछ नीचे तक है। उनके निकट ही ध्यानमग्न तीर्थंकर है जो पद्मासन में बैठे हैं। स्तम्भ का पिछला भाग यद्यपि बिलकुल साधारण बनाया गया है परन्तु दो और 12 तीर्थंकर ध्यानमग्न अवस्था में बताये गये हैं। जिनका आकार लगभग 3 इंच है तथा सभी पद्मासन में है। स्तम्भ का आधा भाग अप्राप्त है। अन्यथा 24 तीर्थंकर दिखाई देते। तृतीय स्तम्भ भाग में केवल भगवान तीर्थंकर को ही प्रदर्शित किया है जिनके आसपास छोटे-छोटे बारीक स्तम्भ आकृति है। भगवान पद्मासन मुद्रा में ध्यानमगन है।

श्री मालवा प्रांतीय दिगम्बर जैन संग्रहालय जयसिंहपुरा, उज्जैन में अनेक स्थानों से लाई गई जैन प्रतिमाएं संग्रहित हैं। इनमें से इस काल की प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है[58]:-

रक्त कमलासन पर आसीन पद्मप्रभ का अंकन यहां की कुछ ही प्रतिमाओं पर मिलता है। सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा के नीचे स्वस्तिक चिह्न स्पष्टतः सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर का सूचक है। मूर्ति क्रमांक 165 में पद्मासन मुद्रा में ध्यानस्थ अंकन है, बदनावर से प्राप्त काले पालिशदार स्तर पर 1 फीट 5 इंच ऊंचे व 7 इंच चौड़े प्रस्तर फलक पर यह स्वतंत्र प्रतिमा है। नीचे मूर्ति लेख इस प्रकार हैः-

"संवत् 1222 फाल्गुन सुदि 5 पोरवालान्वय स.... गागा सुतसा बुनना तस्य सुत लीमदेव सीमदेव इति।" स्वस्तिक चिह्न अंत में।

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की पूर्ण प्रतिमा एक ही है। यह जामनेर से लाई हुई है। चिह्न शंख स्पष्ट है। चौकी पर गोमेध यक्ष व अम्बिका यक्षिणी गोद में बालक लिए है। प्रभामण्डल में महावेणु वृक्ष की लताएं हैं। मूर्ति क्रमांक 7 खड्गासन में अंकित है। ऊपर वीणा लिये किन्नर, अनुचर स्तम्भों में कमलाकृति, प्रतिमा गुना से प्राप्त है व काल 13वीं शताब्दी। यक्ष, यक्षिणी व चंवरधारी स्पष्ट है। क्रमांक 45 की मूर्ति काले पत्थर से निर्मित इस पार्श्वनाथ प्रतिमा के पाद स्थल पर यह अभिलेख है, औं ह्री अदअसी अवुस हयां नमोः। श्री सेननपाथ आयार्येन देया सुतस्य भार्या करमदेवा श्री नंदी समादेदियन दीसना वीरा दिनाय पीलाचार्यन्वय पद्मप्रभुदेव प्रणमति संवत् 1160 वैषाख सुदी 9 स्थितिकेन। कुछ भग्न प्रतिमाओं पर संवत् 1220 व 1308 का अस्पष्ट अभिलेख भी है। बजरंगगढ़ से प्राप्त एक प्रतिमा पर संवत् 1215 का अभिलेख है।

मूर्ति क्रमांक 110 अन्य जैन शासन देवी चतुर्हस्ता रूप में अश्वासीन है। शीर्ष भाग पर पद्मासन में तीर्थंकर है जिनकी पुष्पहार से दो युगल आराधना कर रहे हैं, बाई ओर वीणाधारी ललितासना अन्य देवी है व दाहिनी ओर जैन देवी हैं, नीचे दो आराधक है। देवी का जटा-मुकुट व अलंकरण विशेष कलात्मक है। काले पत्थर की बदनावर से प्राप्त इस प्रतिमा के नीचे सं.1229 का एक मूर्तिलेख है।

बदनावर की शासन देवियां नामसहित अंकित प्राप्त है। इस प्रतिमा फलक में 6 शासन देवियां हैं नीचे उनके नाम वारिदेवी, सिमिदेवी, उमादेवी, सुवयदेवी, वर्षादेवी व सवार्हदेवी लिपि परमारकालीन है। कुछ और भी प्रतिमाएं है जिन पर संवत् 1296, 1222, 1308, 1209, 1220, 1231, 1190 तथा 1223 के अभिलेख हैं जो इनको परमारकालीन सिद्ध करती है।

मूर्ति क्रमांक 16 तीर्थंकर व देवी भग्न आकार 1 फीट $3^{1/2}$ इंच ऊंची व 1 फीट 1 इंच चौड़ी का शरीर गतिशीलता प्रदर्शित करता है व नीचे का लेख संवत् 1308 का है।

24 तीर्थंकरों का मूर्तिफलक क्रमांक 18 है। यह लाल पत्थर का 1 फीट 6 इंच लम्बा व 10 इंच चौड़ा है जिस पर 23 खड़े व एक बैठे तीर्थंकर है। मूर्ति क्रमांक 23 में संगमरमर के बने वृषभनाथ है। वाहन वृषभ के नीचे अंकित है। आकार 1 फीट 10 इंच व 9 इंच है। वृषभनाथ के ऊपर देवता किन्नर फल बरसा रहे हैं। दो परिचारिकाएं चंवर हिला रही है, पैरों के पास एक दम्पत्ति करबद्ध खड़ी है। तीर्थंकर की मुखाकृति में परम संतोष का भाव करुणा अंकित है।

मूर्ति क्रमांक 61 जैन देवी सुमैधा की है। आकार 3.3 इंच - 2.10 इंच है। नीचे परमारकालीन लिपि में देवी का नाम अंकित है। कुण्डल गलहार व एक किन्नर व एक गण है। नीचे वर्द्धमान पुरान्वय व सं.1202 का अभिलेख है, जो बदनावर का होना प्रमाणित करता है। उपर्युक्त विवरण परमारकालीन मूर्तियों का है। इस संग्रहालय में मुस्लिमकालीन मूर्तियां भी पर्याप्त मात्रा में संग्रहित है जो मूर्तिकला के उत्तम उदाहरण है। जैन मूर्तियों के अतिरिक्त इस संग्रहालय में जैनेतर प्रतिमाएं भी संग्रहित है।

जैन पुरातत्व संग्रहालय के प्रवेशद्वार के दाहिनी ओर के प्रस्तर फलक पर अजानुबाहु खड़ी मुद्रा में तीर्थंकर अंकित है। ध्यानावस्था में आकृति में सौम्यता व दिव्य तेज है। दिव्य वृक्ष की टहनियां है व पदार्चन करते हुए दो सेवक हैं। ऊपर अर्ध गोलाकृति में आठ संगीतज्ञ हैं जिनमें लम्बी बांसुरी, घड़ियाल, तबला, ढोलक, तुरही, झांझ, वादक हैं। संगीत के आरोह अवरोह पर ताल लिये एक नर्तक का अंकन विशेष दृष्टव्य है कि उसके पूरे शरीर में प्रसन्नता है व लय पर नृत्य कर रहा है। देवता पुष्प वृष्टि कर रहे हैं। सम्पूर्ण प्रतिमा शास्त्रीय विधान पर निर्मित व प्रस्तर कार्य सूक्ष्म है। इस प्रतिमा का निर्माणकाल शैलीगत आधार पर 950 से 1050 ई. का है।

उज्जयिनी से प्राप्त एक अन्य प्रतिमा महावीर की है.उसका शीर्ष भग्न हो चुका है किन्तु पीछे की प्रभावली व ऊपर का आकाश अंकन स्पष्ट है। मंदिर के प्रमुख भाग में यह प्रस्तर फलक लगाया गया होगा। ऊपर की प्रभावली में हाथी, किन्नर, कमल, व्याल मुख का अंकन है। हाथी के अंकन में पुष्टता है व सूंड में कलात्मक घुमाव। परमार काल में निर्मित यह प्रतिमा खण्ड उज्जयिनी की श्रेष्ठ मूर्तियों में रखा जा सकता है।

उज्जयिनी में धार्मिक सामांजस्य अत्यधिक रहा है और वह मूर्ति शिल्प में स्पष्टतः दिखाई देती है। भगवान महावीर को अवतारों में परिगणित कर अन्य अवतारों का कलात्मक अंकन एक प्रस्तर फलक में उपलब्ध होता है। फल में प्रमुख अंकन स्थिर मुद्रा में खड़े महावीर का है। घुंघराले बाल, कर्ण आभूषण

सौम्य मुद्रा में खड़े हैं और ऊपर तीनों और चतुर्हस्ता विष्णु, मत्स्यावतार, कूर्मावतार, कल्की, वामन, नृसिंह आदि का अंकन है। अन्य प्रतिमाओं में बैठी मुद्रा में तीर्थंकर का अंकन है।

जैन चित्रकला : मालवा में भारतीय इतिहास की अमूल्य निधि विद्यमान है। *बाग के गुहामण्डप, विदिशा उदयगिरि की गुफाएं, ऊन के ऐतिहासिक मंदिर* तथा विभिन्न स्थानों से उपलब्ध महत्त्वपूर्ण प्रतिमाएं एवं शिलालेख प्रमुख हैं। जैनधर्म का योगदान भी कम नहीं रहा है। चित्रकला के क्षेत्र में भी जैन मंदिर पीछे नहीं है। आज जहां भी हम जैन मंदिर में प्रवेश करते हैं, वहां की चित्रकारी हमारा मन मोह लेती है। मंदिरों में जो चित्रकारी के दृश्य अंकित किये जाते हैं, वे किसी तीर्थंकर से सम्बन्धित या जैनधर्म के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं पर आधारित होते हैं। कांच के मंदिरों का भी अपना विशिष्ट स्थान है। प्रस्तुत लेख में मंदिरों की चित्रकारी का उल्लेख न करते हुए, हस्तलिखित ग्रन्थों पर जो लघु चित्र मिलते हैं, उनका अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। आज भी मालवा के जैन मंदिरों के शास्त्र भण्डारों में अनेक चित्र हस्तलिखित ग्रन्थ पड़े हैं किन्तु प्रकाश में न आने के कारण उन पर कोई शोधकार्य नहीं हो सका। इन्दौर के पीपली बाजार स्थित महावीर भवन के पुस्तकालय में एक शास्त्र भण्डार भी है उनके ट्रस्ट के नियमों की कठिनाई के कारण मैं उक्त ग्रन्थों के अवलोकन से वंचित रहा। मालवा में लिखे गये चित्रित ग्रन्थ जो डॉ.मोतीचन्द्र को उपलब्ध हुए उन पर उन्होंने विद्वतापूर्वक प्रकाश डाला है।

9वीं से 12वीं शताब्दी तक के जो भित्ति चित्र मालवा, दक्षिण आदि में मिले हैं, उनके परीक्षण से एक बात स्पष्ट होती है कि कुछ बातें एक समान है। जैसे कच्चा बिना साफ किया हुआ रंग, प्रतिमा की बनावट, रेखाकृति, आंखों का आकाश की ओर उठाव, नुकीली नाक व ठोड़ी, वृक्षों, पशुओं और पक्षियों आदि का परम्परागत व्यवहार एक समान है। यद्यपि स्थानीय परम्परा तथा रीति-रिवाजों के कारण कुछ भिन्नता आ गई, किन्तु शैलीगत दृष्टिकोण से सभी भित्ति चित्रों में कोई अन्तर नहीं आता है। इसके प्रमाण में माण्डवगढ़ में सन् 1465 में रचित कल्पसूत्र की चित्रित हस्तलिखित ग्रन्थ को लिया जा सकता है।[59]

इसी समय का (सन् 1466) एक चित्रित हस्तलिखित कल्पसूत्र ग्रंथ मुनि कांतिविजयजी के संग्रह में, जो कि अब आत्मानंद ज्ञान भण्डार नरसिंहजी की पोल बड़ोदा में है तथा जिसका केटलाग नं.2186 है। जिसकी प्रशस्ति के अनुसार यह ग्रंथ माण्डवगढ़ में लिखा गया था। इस ग्रंथ में जो चित्र हैं, वे इस प्रकार हैं:-

(1) त्रिशला के चौदह स्वप्न, (2) नैमिनाथ का विवाह जुलूस, (3)

सिद्धार्थ का स्नानागार, (4) महावीर के जन्म के छठे दिन जागरण, (5) महावीर के कान में शलाका डालना, (6) ग्वाले का अभद्र आचरण और आधी पौषाक सौंपना (7) कमठ तपस्या का अभ्यास, (8) राजकुमार अरिष्टनेमि का पराक्रम, (9) जलक्रीड़ा, (10) कोशा नृत्य, (11) बालक वज्र का उपहार (12) द्वादश वर्षीय अकाल, (13) धार्मिक ग्रंथ लेखन एवं (14) साधु के आचरण के नियम।[60]

उपर्युक्त चित्रों का वर्णन इस प्रकार किया गया है[61]:-

(1) त्रिशला के चौदह स्वप्न : इसमें जिन रंगों का उपयोग किया गया है, वे नीला, आसमानी, पीला, हरा, काला, सफेद, लाल, गुलाबी आदि।

चित्र में चौदह स्वप्नों के दृश्यों को रंगों से प्रदर्शित किया गया है। हाथी, बैल, सिंह, सूर्य, चन्द्र, लक्ष्मी, फूलों का हार, स्वर्णध्वज, पूर्ण जलपत्र, कमलयुक्त झील, दूध का सागर, देवताओं का पवन विमान, हीरों का ढेर और धुआंरहित आग।

(2) नेमिनाथ का विवाह जुलूस : चित्र में सुनहरी, लाल, गुलाबी, काला, और सफेद रंग का प्रयोग किया गया है। चित्र की पृष्ठभूमि अति नीले रंग में प्रदर्शित की गई है।

चित्र के मध्य में नेमिनाथ गुलाबी रंग की धोती, पीले रंग का दुपट्टा, मुकुट और गहने पहने हुए हैं तथा दोनों हाथों में नारियल के समान कुछ वस्तु उठाएं हुए बांयी ओर चल रहे एक हाथी पर बैठे हुए हैं। कवचधारी घोड़ों पर तथा रथ पर रिश्तेदार तथा अधिकारी बैठे हुए जुलूस का अनुसरण कर रहे हैं। जुलूस में बाजे वाले तथा नृत्यांगना भी है। बांयी ओर नेमिनाथ की भावी वधु राजीमती नववधु के वेश में एक सुसज्जित कक्ष में कांच में अपना चेहरा देखते हुए प्रदर्शित की गई है। उनकी दो सेविकाएं भी दिखाई दे रही हैं।

(3) सिद्धार्थ का स्नानागार : छत्री की छाया के नीचे सिद्धार्थ बांयी ओर मुंह किये हुए स्नान करने की चौकी पर बैठे हुए हैं। उनकी बांयी ओर उनके बड़े बालों में कंघी करते हुए एक सेवक को दिखाया गया है।

(4) महावीर के जन्म के छठवें दिन रात्रि जागरण : एक भव्य तोरण के नीचे कांच में मुंह देखते हुए त्रिशला एक चौकी पर बैठी है। बांयी ओर एक सेविका हाथ में दीपक लेकर खड़ी है। तोरण के ऊपर मयूर दिखाया गया है।

(5) महावीर के कान में शलाका डालना : एक कथा है कि एक बार महावीर एक गांव में ठहरे हुए थे। एक ग्वाले ने अपना बैल महावीर के पास छोड़ दिया था। बैल भटक गया। महावीर अपने गहरे ध्यान में लीन थे और जब ग्वाले ने बैल के विषय में पूछा तो कोई जवाब नहीं दे सके थे तब ग्वाले ने महावीर के कान में शलाका डाली थी। इसी कथा पर आधारित यह चित्र है।

चित्र के मध्य महावीर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं। ग्वाला महावीर के कान में शलाका डाल रहा है। आगे के मैदान में एक अन्य ग्वाला और एक सिंह भी चित्रित है।

(6) ग्वाले का अभद्र आचरण और आधी पौषाक सौंपना : ऊपर के भाग में एक ब्राह्मण जो आधी पौषाक लेने के लिये महावीर के पीछे भटक रहा था, जो कि महावीर ने पहिन रखी थी, अंत में ब्राह्मण प्राप्त कर लेता है। नीचे के भाग में महावीर कायोत्सर्ग मुद्रा में एक ग्वाले के साथ खड़े हैं। ऊपर एक ओर कोने में एक बैल और एक गाय प्रदर्शित है। कथा इस प्रकार है कि एक बार एक ग्वाले ने अपना बैल महावीर के पास छोड़ दिया था। बैल जंगल में भटक गया। जब ग्वाले ने महावीर से बैल के विषय में पूछा तो महावीर ने कोई उत्तर नहीं दिया। ग्वाले को जंगल में बैल को खोजने के लिये पूरी रात भटकना पड़ा। जब वह लौटा तो महावीर को शांति से बैठे हुए पाया। इससे वह क्रुद्ध हुआ और उसने महावीर पर आक्रमण करने की कोशिश की किन्तु इन्द्र ने आक्रमण करने से रोक दिया।

(7) कमठ तपस्या का अभ्यास : इस चित्र में सम्बन्धित कथा इस प्रकार है कि एक बार बनारस में एक सन्यासी पंचाग्नि तपने में लीन था। पार्श्वनाथ भी उस सन्यासी को देखने गये थे। पार्श्वनाथ ने देखा कि एक जीवित सर्प लकड़ियों के साथ आग में फेंक दिया गया है। पार्श्वनाथ दया और सहानुभूति के साथ साधु के पास गये और उसके अंधविश्वासों के लिये उसको डांटा। बिन बुलाये सलाहकार को देखकर साधु क्रोध में फूट पड़ा और पार्श्वनाथ से कहा कि आप अपना कार्य देखिये। तब तत्काल पार्श्वनाथ ने अपने सेवकों को आदेश दिया कि सर्प के साथ लकड़ी का गट्ठर अग्नि से अलग कर दिया जावे। सर्प को पार्श्वनाथ ने धार्मिक उपदेश दिया, सर्प मृत्यु को प्राप्त हुआ और नागराज धरणेन्द्र के नाम से पुनः जन्म लिया। सन्यासी मेघमाली देव के रूप में जन्मा।

चित्र में इस कथा से सम्बन्धित दो घटनाओं को प्रदर्शित किया गया है। ऊपर कमठ पालकी मारे बैठे हैं और उनके चारों ओर अग्नि जल रही है और ऊपर से सूर्य तीक्ष्ण प्रकाश दे रहा है। नीचे मुक्त कराये गये सर्प को दिखाया गया है। दाहिनी ओर पार्श्वनाथ हाथी पर बैठे हैं। बांयी ओर सांप को मुक्त कराते हुए सेवकों को प्रदर्शित किया गया है।

(8) राजकुमार अरिष्टनेमि का पराक्रम : कथा है कि एक बार राजकुमार अरिष्टनेमि कृष्णवासुदेव के शास्त्रागार को देखने गये थे और अपने कुछ मित्रों की जिज्ञासा को शांत करने के लिये तद्विषयक विवाद भी किया था। कृष्ण ने जब

कोलाहल सुना तो उन्होंने अरिष्टनेमि को द्वन्दयुद्ध की प्रतियोगिता के लिये आमंत्रित किया।

इस प्रतियोगिता में दोनों पक्षों के मध्य यह सहमति हो गई थी कि विरोधी दल की शक्ति एक-दूसरे की भुजा झुकाकर नापी जावेगी और इसमें कृष्ण पराजित हुए।

इस घटना से सम्बन्धित दो दृश्य चित्र में अंकित किये गये हैं। ऊपर के भाग में अरिष्टनेमि शंख फूंकते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। नीचे के भाग में *अरिष्टनेमि अपनी बांयी भुजा को ताने खड़े हैं और कृष्ण उस पर लटक रहे हैं* पर अरिष्टनेमि की भुजा झुकाने में असमर्थ हैं।

(9) जलक्रीड़ा : ऐसा कहा जाता है कि अरिष्टनेमि को एक बार कृष्ण रैवत पर्वत पर अपनी रानियों के साथ ले गये। कृष्ण ने अपनी रानियों को यह निर्देश दे दिया था कि अरिष्टनेमि को जलक्रीड़ा में संलग्न कर विवाह करने के लिये उन पर दबाव डालकर तत्पर कर लिया जाय।

चित्र में स्त्रियां अरिष्टनेमि के साथ जलक्रीड़ा करते हुए प्रदर्शित की गई है। दूसरी ओर तालाब तक जाने के लिये सीढ़ियां बनी है। एक ओर एक स्त्री खड़ी हुई है। मध्य में अरिष्टनेमि और कृष्णवासुदेव दिखाये गये हैं। चित्र में एक ओर एक वृक्ष मधुमक्खियां सहित दिखाया गया है। जो जैनधर्म की मान्यताओं में से एक है।

(20) कोशा नृत्य : चित्र में एक रथकार को आम के वृक्ष की ओर लक्षित दिखाया गया है। धरातल पर बायी ओर एक झरना तथा मयूर है। कोशा अपने हाथों में फूल लिये सुई के नौक पर नृत्य कर रही है।

(11) बालक वज्र का उपहार : तुम्बवन में धनगिरि और उसकी पत्नी सुनन्दा रहते थे। जब सुनन्दा गर्भवती हुई तब धनगिरि जैन साधु हो गया। इसके उपरांत सुनन्दा के गर्भ से एक बालक का जन्म हुआ। जब बालक को अपने पिता के साधु हो जाने की बात का पता चला तब उसे भी जातिस्मरण ज्ञान हुआ और अपनी माता का मोह कम करने के लिये उसने माँ के प्रति अपना स्नेह समाप्त कर दिया। वह दिन-रात रोया करता जिससे माता सुनन्दा ऊब जाय। जब बालक छः माह की आयु का था, तब एक दिन वज्र के पिता जैन साधु धनगिरि भिक्षा हेतु आये। सुनन्दा ने जो बालक से ऊब गयी थी, उसको दान दे दिया। धनगिरि को अपने गुरु ने अच्छा समय जानकर यह आदेश दिया था कि आज जो भी भिक्षा मिले ले आना। धनगिरि ने बालक को अपनी झोली में डाल दिया और गुरु को जाकर सौंप दिया।

चित्र में इस कथ ासे सम्बन्धित दो दृश्य प्रदर्शित किये गये हैं। ऊपरी भाग में मुनि धनगिरि को भद्रासन में बैठे हुए दिखाया गया है और उसके स्थापनाचार्य है। सुनंदा अपने पति को बालक उपहार दे रही है। नीचे के भाग में बांयी ओर बालक वज्र तथा दांयी ओर चार साध्वियां सूत्रों का गायन करते हुए प्रदर्शित की गई है।

(12) द्वादशवर्षीय अकाल : एक दिन आर्य वज्र कफ के उपशमन के उद्देश्य से कान पर रखी सोंठ प्रतिक्रमण के समय भूमि पर गिर गयी। इस प्रमाद से अपनी मृत्यु निकट जानकर आर्य वज्र ने अपने शिष्यों से कहा कि अब बारह वर्ष का दुष्काल पड़ेगा, जिस दिन मूल्यवान भोजन तुम्हें भिक्षा में मिले उसके अगले ही दिन सुबह ही सुभिक्ष हो जावेगा। इतना कहकर वज्रसेन उस स्थान से विहार कर गये और रथावर्त पर्वत पर वज्रसेन निर्वाण को प्राप्त हुए। आर्य वज्र की भविष्यवाणी के अनुसार एक दिन जैन साधुओं को मूल्यवान भोजन मिला और उसके अगले ही दिन से सुभिक्ष हो गया।

उपर्युक्त कथानक से सम्बन्धित तीन घटनाओं का अंकन इस चित्र में किया गया है। मध्य भाग में चक्रस्वामी बैठे हुए हैं, बायी ओर दो साधुओं को विद्यापिण्ड देते हुए बताया गया है। ऊपरी भाग में तीन जैन साधु कायोत्सर्ग मुद्रा में देवलोक जाने के लिये अनशन करते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। नीचे के भाग में बायी ओर दो जन साधुओं को ईश्वर के द्वारा भोजन देते हुए प्रदर्शित किया गया है।

(13) धार्मिक ग्रंथ लेखन : चित्र में दो घटनाओं को प्रदर्शित किया गया है। ऊपरी भाग में बायी ओर देवर्द्धिगणि ताड़पत्र पर लिखते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। दायी ओर दो जैन साधु बैठे हैं। नीचे के भाग में बायी ओर देवद्धिगणि ग्रंथ को ठीक करते हुए दिखाये गये हैं तथा दायी ओर उनके शिष्य दवात लिये बैठे हैं।

(14) साधु के आचरण के नियम : चित्र के ऊपरी भाग में एक स्त्री चित्रित है। यह इस बात का द्योतक है कि साधु को उस भवन में नहीं रहना चाहिये जिसमें स्त्रियों के चित्र बने हों। नीचे के भाग में श्रावक एक साधु को भोजन देते हुए प्रदर्शित है साथ ही तीन बर्तन और सिगड़ी भी दिखायी गयी है जो इस बात का निर्देश देता है कि जैन साधु को ताजा भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिये।

प्राचार्य भंवरलाल लुणिया के अनुसार सन् 1436 में तैयार की गई जैन ग्रन्थों की एक प्रतिलिपि उपलब्ध है। इस ग्रंथ के पृष्ठो पर उनके विषय से सम्बन्धित गाथाओं के चित्र बड़े आकर्षक रंगों में चित्रित किये हैं। ग्रंथ के पृष्ठों के किनारे फूल-पत्तियों और बैल-बूटों से चित्रित किये जाते थे। इनमें लाल, पीले,

नीले और सुनहरे रंगों का उपयोग होता था। मानव आकृतियां भी सुन्दर आकर्षक रंग से चित्रित की जाती थी। इस चित्रकला पर पश्चिमी भारत की जैन चित्रकला का प्रभाव था।[82]

मांडू में जैन हस्तलिखित ग्रन्थों में कल्पसूत्र विशेष रूप से चित्रित किये गये हैं। ऐसा ही एक कल्पसूत्र ग्रंथ जिसकी पांडुलिपि और चित्रण मांडू में सन् 1498 में हुआ था, उपलब्ध है। यह मांडू कल्पसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ में अक्षर लाल पृष्ठभूमि में सुनहरे रंग से लिखे गये हैं। बैल-बूटों व फूल-पत्तियों के अलंकरण की पट्टियों से इस ग्रंथ के प्रत्यके पृष्ठ के दो भाग खड़े रूप में कर दिये गये हैं। दाहिने भाग में ग्रंथ से सम्बन्धित चित्र अंकित किये गये हैं और बांये भाग में ग्रंथ के अक्षर गद्य पद्य से लिखे गये हैं। ग्रंथ में वर्णित जैन बातों को समझाने के लिये ये चित्र अंकित किए गए हैं। मनुष्यों, पशु-पक्षियों और देवी-देवताओं के विभिन्न चित्र बनाएं गए हैं। राजप्रसाद या राजभवन के आकार का अंकन, राजपुरुषों और राजमहिषियों की बैठी हुई आकृतियां, एक-दूसरे को काटते हुए वृत्तों से वक्षस्थल का चित्रण, अश्व के चित्रण में मेहराबसी झुकी हुई गर्दन और अनुपात से छोटा सिर, ये तत्त्व जैन ग्रन्थों की चित्रकला की विशेषताएं हैं। पुस्तक के चित्रण में लाल, नीले और सुनहरे रंग का बाहुल्य है। परन्तु इस चित्रण में ग्राम्यजीवन या लोकजीवन की झांकी नहीं है।[83]

संदर्भ सूची

1 जयाजीप्रताप, 12 नवम्बर, 1949
2 Jainism in Rajasthan, Page 110
3 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ.310-11
4 साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 30 मार्च 69, प्रो.के.डी.वाजपेयी का लेख
5 टाड्स राजस्थान कुक, पृ.1773
6 Bibliography of Madhya Bharat, Part-I, Page 11
7 History of Indian and Eastern Architecture, Vol.2, Page 165
8 Report of the Archaeological Survey of India, Vol.2, P.275
9 दशपुर जनपद संस्कृति, पृ.45
10 टाड्स राजस्थान जिल्द 2, पृ.1070-71
11 वही, पृष्ठ 162
12 Bibliography of Madhya Bharat, Part - I, Page 11
13 Ibid, Page 162
14 Vol. XI, Page 283
15 The Cultural Heritage of Madhya Bharat, Page 53
16 अनेकांत, वर्ष 17, किरण 3, पृष्ठ 99
17 The Cultural Heritage of Madhya Bharat, Page 61
18 मध्यभारत संदेश, 3 अप्रैल 1954, पृष्ठ 9 व 10
19 The Cultural Heritage of Madhya Bharat, Page 107
20 Progress Report of Archaeo-

logical Survey of India Western Circle Year, ending 31st March, 1919, Page 61
21 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 331
22 Progress Report of Archaeological Survey of India, P.63-64
23 जैन तीर्थ सर्वसंग्रह, भाग 2, पृष्ठ 334
24 उज्जयिनी दर्शन, पृष्ठ 84
25 अनेकांत, वर्ष 19, अंक 1, 2, छोटेलाल जैन स्मृति अंक, पृष्ठ 119
26 अनेकांत, वर्ष 18, किरण 2, पृष्ठ 65
27 अनेकांत, वर्ष 20, किरण 5, दिसम्बर 67, पृष्ठ 211
28 भारतीय वास्तु शास्त्र, प्रतिमा विज्ञान, द्वि. ना. शुक्ल, पृष्ठ 313-14
29 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 349
30 द्वि. ना. शुक्ल, वही, पृष्ठ 314
31 त्रिषष्टि श्लाका पुरुषचरित, पर्व 10, सर्ग 10
32 जयाजीप्रताप, 12 नवम्बर 1949
33 साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 30-3-69 में प्रो. के. डी. वाजपेयी का लेख "रामगुप्त के शिलालेखों की प्राप्ति।"
34 वही
35 वही
36 वही
37 Journal of the Oriental Instt. M.S.University of Baroda, Vol. XVIII, No.3, Page 250-251
38 Ibid, Page 255
39 Ibid, Page 253
40 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 347
41 गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 265
42 विद्यावाणी स्मारिका, 1972
43 दशपुर जनपद संस्कृति, पृष्ठ 120
44 अनेकांत, वर्ष 17, किरण 2, पृष्ठ 98
45 वही, पृष्ठ 99
46 अनेकांत, वर्ष 17, किरण, पृष्ठ 99
47 श्री छोटेलाल कृत अनेकांत, वर्ष 12, किरण 10, पृष्ठ 327-328 में छोटेलाल जैन का लेख।
48 अनेकांत, वर्ष 19, अंक 1-2, पृ. 129-30
49 मध्यभारत संदेश, 25 दिसम्बर 1954, पृष्ठ 7
50 वही, 3 अप्रैल 1954, पृष्ठ 9
51 दशपुर जनपद संस्कृति, पृष्ठ 58
52 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 331
53 Progress Report of Archaeological Survey of India, W.C.Page 63-64
54 श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ, पृष्ठ 597 से 598
55 अनेकांत, वर्ष 18, किरण 2, पृष्ठ 65
56 वही, पृष्ठ 65-66
57 विद्यावाणी स्मारिका, 1972
58 संग्रहालय की परिचय पुस्तिका तथा विद्यावाणी 1972 के आधार पर
59 Jain Miniature Painting from Western India, Page 14, 24.
60 Ibid, Page 40, 41
61 Ibid, Page 160 to 163
62 मालवा : एक सर्वेक्षण, पृष्ठ 93
63 वही, पृष्ठ 93-94

अध्याय - 6

मालवा में जैनतीर्थ

जैनधर्म में मुख्य रूप से दो शाखाएं हैं, एक श्वेताम्बर तथा दूसरी दिगम्बर। इन दोनों ही सम्प्रदायों के अपने-अपने मंदिर हैं तथा इनके तीर्थस्थान भी अलग ही हैं। कहीं-कहीं जो बड़े एवं ऐतिहासिक स्थान हैं, दोनों ही सम्प्रदाय उन्हें अपना तीर्थ मानते हैं। मालवा के जैन तीर्थों का परिचय प्राप्त करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम पहले जैनधर्म में तीर्थों के भेद जान लें। पं.नाथूराम प्रेमी[1] का कथन है- "दिगम्बर सम्प्रदाय के तीर्थों के दो ही भेद किये जाते हैं। एक तो 'सिद्धक्षेत्र' जहां से तीर्थंकर या दूसरे महात्मा सिद्ध पद या निर्वाण को प्राप्त हुए और दूसरे 'अतिशय क्षेत्र' जो किसी मूर्ति या तत्रस्थ देवता के किसी अतिशय के कारण बन गये हैं या जहां मंदिरों की बहुलता के कारण दर्शनार्थी अधिक जाने लगे हैं और इस कारण उनका अतिशय बढ़ गया है। तीर्थंकरों की गर्भ, जन्म, ज्ञान भूमियां भी तीर्थ है, पर वे उक्त दो भेदों में अन्तर्मुक्त नहीं होती।" इस प्रकार जैनधर्म में तीन प्रकार के तीर्थ कहे गये हैं। किन्तु वास्तविक रूप में वे दो ही हैं। मालवा में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के तीर्थ स्थानों का बाहुल्य है जिनका परिचय नीचे दिया जा रहा है।

(1) उज्जैन : भारत की प्राचीन नगरियों में से एक उज्जैन है। प्राचीनकाल में इस महानगरी के अनेक नाम हमें मिलते हैं। यथा- प्रतिकल्पा, अवंतिका, भोगवती, हिरण्यवती, कनकशृंगा, कुशस्थली, कुमुद्वती, उज्जयिनी, अमरावती, विशाला आदि। विदेशी पर्यटकों ने इस अन्य नामों से सम्बोधि किया है। मि.ल्ययार्ड ने इसका नाम नवतेरी और शिवपुरी लिखा है। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डॉ.भगवतशरण उपाध्याय के शब्दो में यह नगरी न केवल धार्मिक महत्त्व रखती है वरन् यातायात में उत्तर-दक्षिण को जोड़ती भी है।[2]

उज्जैन वैसे तो मोक्षदायिनी अवंतिका के नाम से परिचित एक तीर्थ नगरी है ही, किन्तु जैन तीर्थ के रूप में भी यह प्रसिद्ध है।जैन तीर्थ सर्वसंग्रह[3] में उज्जैन का वर्णन इस प्रकार मिलता है।

मालवा की प्राचीन राजधानी वाला यह नगर दक्षिणापथ का प्रमुख नगर

है। चीनी यात्री हुएनसांग जब मालवा में आया था तब मालवा विद्या का केन्द्र था। ई.सन् की सातवीं शताब्दी तक मालवा अवन्ति के नाम से पहिचाना जाता था। अवंति का उज्जैन नाम किस प्रकार पड़ा इस सम्बन्ध में श्री दयाशंकर दुबे अपनी पुस्तक "भारत के तीर्थ" में इस प्रकार लिखते हैं:-

"अवंतिका में राजा सुधन्वा राज करता था, वह जैन धर्मावलम्बी था। उसके समय में अवंतिका एक विशाल नगरी थी। इसका प्राचीन नाम परिवर्तन करके उज्जैन नाम रखा तभी से यह नगरी उज्जैन नाम से विख्यात हुई। राजा सुधन्वा के समय नगरी जैनियों का एक प्रधान केन्द्र बन गई थी।"

भगवान महावीर के समय में चण्डप्रद्योत यहां का राजा था, वह जैन धर्मावलम्बी था। वह सिंधु सोवीर के राजा उदायन के पास की जीवंतस्वामी की मूर्ति ले आया और उसके स्थान पर एक दूसरी चन्दन निर्मित मूर्ति बनवाकर रखवा दी। यह जीवंतस्वामी की मूर्ति बाद में उज्जैन में रही जिसकी यात्रा के लिये जनता यहां आती रहती थी।

अशोक यहां प्रांतीय शासक रह चुका था। उसका पुत्र कुणाल भी यहां का शासक था। कुणाल के उपरांत उसका पुत्र सम्प्रति यहां का शासक हुआ। सम्प्रति के समय आर्य सुहस्तिसूरि जीवंतस्वामी की मूर्ति के दर्शन करने यहीं आये थे। आर्य सुहस्तिसूरि ने सम्प्रति को जैनधर्म की दीक्षा दी। सम्प्रति ने जैनधर्म की उन्नति के लिये अथक प्रयास किया। वृहत्कल्प भाष्य-गाथा 3277 की टीका में क्षेमकीर्ति (वि.सं.1332) बताते हैं:-

जीवन्तस्वामि प्रतिमावन्दनार्थपुज्ययिन्यामार्यसुहास्तिन
आगमन।। वृहत्कल्प सूत्रभाष्य भाग 3, पृष्ठ 917-18

आचार्य चण्डरुद्र, आचार्य भद्रगुप्त आर्यरक्षितसूरि, आर्य आषाढ़ आदि आचार्यों ने यहीं विहार कर जैनधर्म की धारा को प्रवाहित रखा। इनके बाद विक्रम संवत् के प्रारम्भ के पूर्व आचार्य कालकसूरि ने राजा गर्दभिल्ल को सिंहासन से अलग करवाकर उसके स्थान पर शकों को सिंहासन दिलाने में सहायता की। बाद में शकों को पराजित कर विक्रमादित्य ने राजसत्ता की बागडोर अपने हाथ में ली। विक्रम संवत् का प्रारंभ श्री कालकाचार्य की कृपा का ही परिणाम है। सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य की राज्यसभा के एक प्रकाण्ड विद्वान रत्न थे।

इस नगरी की प्रसिद्धि तो वैसे अनेक रूप में है किन्तु जिन घटनाओं के *कारण उज्जैन जैनतीर्थ जाना जाता है उनका उल्लेख यहां अनिवार्य है। यहां* अवंति सुकुमाल का स्मारक है। आर्य सुहस्तिसूरि ने यहीं अवंति पार्श्वनाथ के मंदिर की स्थापना की जिसकी पृष्ठभूमि में अवंति सुकुमाल और उसकी 312

रानियों की गाथा है। अवंति सुकुमाल के पुत्र महाकाल ने आर्य सुहस्तिसूरि के उपदेश से वीरनिर्वाण संवत् 250 के लगभग क्षिप्रा के किनारे पिता का स्मारक श्री अवंति पार्श्वनाथ का गगनचुम्बी विशाल मंदिर बनवाया जो महाकाल के मंदिर के दूसरे नाम से आज पहिचाना जाता है। यह जैन मंदिर पुष्यमित्र के समय में महादेव के मंदिर में परिवर्तित हुआ। श्री सिद्धसेन दिवाकर ने इस मंदिर में से श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट की थी और उनके उपदेश से इस मंदिर का जीर्णोद्धार किया गया था। इसमें प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है कि यह कपोल कल्पना है।

इस घटना का प्राचीन श्वेताम्बर आगम से लेकर चूर्णियों, टीकाओं, प्रबन्धों और कथाओं में थोड़े बहुत अन्तर से एक समान उल्लेख मिलता है। इस विषय में डॉ.शार्लाटि क्राउझे ने "जैन साहित्य और महाकाल मंदिर" शीर्षक लेख में विस्तार से प्रकाश डाला है जिसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है:-

उज्जैणीनयरीए अवंतिनामेण विस्सुओ आसी।
पाओवगमनिवन्नो, सुसाणमज्झम्मि एगंतो।।
तिन्नि रयणीए खडओ, मल्लुकी, रुट्ठिया विकड्ढंती
सोवि तट्ठ खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं।।

अर्थात् उज्जैनी नगरी में अवंति नामक विख्यात पुरुषा था जिसने एकांत में समाधि लेकर मरना स्वीकार किया। रुष्ट सियालनी ने तीन रात तक चूस चूस कर खाया। इस प्रकार से भक्षित होने पर उन्होंने उत्तमार्थ प्राप्त किया।

यही बात "मरणसमाहिपइण्णाय" में इस प्रकार है:-

मरणम्मि जस्स मुवकं, सु कुसुम गन्धोदयं च देवेहिं।
अज्जवि गंधवई सा, तं च कुडंगीसरट्ठाणं।।

अर्थात् उसके मरते समय देवताओं ने पुष्प एवं सुगंधित जल वर्षा की। आज भी गंधवती नदी और कुडंगीसर नामक स्थान विद्यमान है।

उपर्युक्त गंधवती और इस नाम का घाट क्षिप्रा के प्रवाह के पूर्व दिशा में अवंति पार्श्वनाथ जैन मंदिर के पास आज भी विद्यमान है। इस ग्रन्थ की चूर्णि में बताया गया है कि

तीसे पुत्तो तत्व देवकुलं करोति,
तं इयाणि महाकालं जातं।
लोकेणं परिग्राहितं।।

इसके पुत्र ने जहां देव मंदिर बनवाया, वहां महाकाल बन गया। अन्य धर्मावलम्बियों ने उसे ग्रहण कर लिया।

इस जैन मंदिर को जो "महाकाल का मंदिर बन गया" शैवों ने इसे ग्रहण

कर लिया, सिद्धसेन दिवाकर ने मंदिर में स्थापित शिविलिंग में से श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट करके इस जैन तीर्थ का जीणोद्धार करवाया। श्री जिनप्रभसूरि[4] ने इस प्रकार इसका उल्लेख किया है-

"ततश्च गोहदमण्डले ज सांवद्राप्रभतिग्रामाणामेकोनविंशति, चित्रकूट मण्डले वसाड प्रभृति ग्रामाणां चतुशींति, तथा घुंटारसी-प्रभृति ग्रामाणां चतुविंशतिं मोहडवासक मण्डले ईसरोडाप्रभृतिग्रामाणां षपञ्चाशतंमदात ततः शासनपट्टिकां श्रीमद्ज्जयिन्यां, संवत 1 चैत्र सुदि 1 गुरी, भाटवेशीय महाक्षपटलिकपरमार्हत श्वेताम्बरोपासक ब्राह्मण गौतमसुतकात्यायनेन राजाऽलेखयत।।

अर्थात् उसके उपरांत राजा ने स्वयं के कल्याण के लिये कुडुंगेश्वर ऋषभदेव के शासन द्वार गोहद मंडल में सांबद्र आदि 91 ग्राम, चित्रकूट मंडल में बसाड आदि 84 ग्राम, घुंटारसी आदि 24 ग्राम और मोहडवास मंडल में ईसरोडा आदि 56 ग्राम समर्पित किये। फिर राजा ने शासन पट्टिका उज्जैन में चैत्रशुक्ला प्रतिपदा संवत् 1 गुरुवार के दिन भाट देश निवासी महाक्षपटलिक परमश्रावक, श्वेताम्बर मतानुयायी ब्राह्मण गौतम पुत्र कात्यायन से लिखवायी।

अतः यह अपने आप प्रमाणित हो जाता है कि उज्जैन अन्य धर्मों के समान ही जैनधर्म का प्राचीनकाल से केन्द्र रहा है और जैन मतावलम्बियों का एक प्राचीन तीर्थस्थान है यद्यपि महाकाल संबंधी कथा सर्वथा कपोलकल्पित है।

(2) विदिशा : विदिशा इतिहास प्रसिद्ध नगर है। दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ का यहां जन्म स्थान कहा जाता है[5]। इसके पास ही उदयगिरि में बीस गुफाओं का एक समूह है। इसमें क्रमांक एक व क्रमांक बीस की गुफाएं जैनधर्म से सम्बन्धित है। बीसवीं गुफा में जैनियों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति थी जो अब वहां नहीं है। उसमें सन् 425-26 का एक अभिलेख है जो बहुत महत्त्वपूर्ण है[6]। आचार्य महागिरि तथा सुहस्ति ने यहां विहार किया था[7]। दशपुर में चण्डप्रद्योत ने भायल स्वामीगढ़ बसाकर वहां एक जैन मंदिर बनवाया और उसमें जीवंतस्वामी की मूर्ति स्थापित कर दी थी। बाद में यही मूर्ति विदिशा में स्थापित हुई जिसका उल्लेख जैनग्रन्थों में मिलता है।[8] विदिशा के पास कुंजरावर्त और रथावर्त नाम के पर्वत थे, दोनों पासपास थे। जैन परम्परा के अनुसार कुंजरावर्त पर्वत पर आर्य वज्रस्वामी ने निर्वाण पाया था। इस पर्वत का उल्लेख रामायण में भी आता है। रथावर्त पर्वत पर आर्यवज्र स्वामी पांच सौ श्रमणों के साथ आये थे। इस पर्वत का उल्लेख महाभारत में आता है।[9] इसके अतिरिक्त यहां बहुत से स्तूपों के अवशेष भी मिलते हैं। इसके पास ग्यारसपुर स्थान पर भी बहुत से मंदिरों के भग्नावशेष मिले हैं जिनमें जैन मंदिरों के भग्नावशेष भी है पास ही दुर्जनपुरा में

गुप्तकालीन जैन-मूर्तियां भी मिली हैं। यहां यह उल्लेख कर देना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि मालवा में जैनधर्म से सम्बन्धित पुरातात्विक प्रमाण सर्वप्रथम यहीं प्राप्त होते हैं।

(3) दशपुर : दशपुर या मन्दसौर के जैनतीर्थ होने के सम्बन्ध में जैनआगम, आवश्यक सूत्र की चूर्णि, निर्युक्ति और वृत्ति के अनुसार भगवान महावीर के समय में सिंधुसौवीर देश के वीर्तभयपुरपत्तन के राजा उदायन के पास भगवान महावीर की चन्दन निर्मित एक प्रतिमा थी जिसकी पूजा उदायन और उसकी रानी प्रभावती करते थे। प्रभावती के मरणोपरांत प्रतिमा की पूजा-अर्चना का कार्य देवदत्ता नामक दासी को सौंपा गया। देवदत्ता का उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत से प्रेम हो गया। चण्डप्रद्योत ने दूसरी वैसी ही प्रतिमा बनवाकर वहां रख दी एवं मूल प्रतिमा और दासी को अपने यहां ले आया। जब प्रतिमा और देवदत्ता के अपहरण की बात उदायन को विदित हुई तो उसने चण्डप्रद्योत पर आक्रमण कर कैद कर लिया और अपने देश की ओर प्रस्थित हुआ। मार्ग में वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो जाने के कारण पड़ाव डालना पड़ा। सुरक्षा के लिये उदायन के साथी दस राजाओं ने मिट्टी के 'पुर' बनाये और उनमें अपना पड़ाव डाला। दस छोटे-छोटे पुर होने से भी इसे दशपुर कहते हैं। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण प्रसंग से उदायन ने चण्डप्रद्योत को स्वधर्मी (जैन मतावलम्बी) समझकर छोड़ दिया और उसका राज्य भी लौटा दिया तथा प्रतिमा को लेकर उसने अपनी राजधानी को लौटना चाहा किन्तु वह प्रतिमा वहां से नहीं हटी वरन् देववाणी से विदित हुआ कि उदायन की राजधानी अभिसात हो जाने वाली है। इस कारण यह मूर्ति यही रहेगी। फिर यहां एक जैन मंदिर बनाकर मूर्ति को प्रतिष्ठापित कर दिया गया। चण्डप्रद्योत ने मंदिर के व्यय एवं व्यवस्था के लिये दशपुर नगर मंदिर को अर्पित कर दिया। "त्रिषष्टिशालाका पुरुषचरित" के अनुसार इस मंदिर के लिये चण्डप्रद्योत के द्वारा 1200 गांव भेंट किये गये और बाद में चण्डप्रद्योत ने भायलगढ़ स्वामीगढ़ बसाकर वहां एक जैन मंदिर बनवाया और उसमें उक्त मूर्ति स्थापित कर दी थी।

प्रद्योतोऽपि वीतमय प्रतिमाये विशुद्धधीः।
शासनेन दशपुरं दत्वा वन्ति पुरीमगात।604।।
अन्येथुर्विदिशां गत्वा भायलस्वामी नामकम्।
देवीयं पुरं चक्रे, नान्यथा घरणोदितम्।।605।।
विद्युन्मालीवृताये तु, प्रतिमाये महीपतिः।
प्रददो द्वादश्रगाम, सहस्मान् शासनेन सः।।606।।

इसी प्रतिमा के कारण ही यह नगर जैनतीर्थ प्रसिद्ध हुआ।[10] इसी नगर में आचार्य आर्यरक्षितसूरि का जन्म वीरसंवत् 502 में हुआ था तथा यहीं वीरसंवत् 597 में आचार्य का निर्वाण भी हुआ।[11] 15वीं शताब्दी के मांडवगढ़ के मंत्री संग्राम सोनी के द्वारा दशपुर में जैन मंदिर बनाने का उल्लेख है। जैन तीर्थ सर्वसंग्रह भाग 2 ग्रन्थ के अनुसार यहां के खलचीपुर के पार्श्वनाथ मंदिर की दीवारों में लगी हुई द्वारपालकों की प्रतिमाएं गुप्तकालीन है और खानपुरा सदर बाजार के पार्श्वनाथ के घर देरासर (गृह मंदिर) में पद्मावती देवी की प्रतिमा भी प्राचीन है।[12] किन्तु जब मैं दशपुर के जैन मंदिर और शास्त्र भण्डारों के अवलोकनार्थ गया था तब मैंने यह पाया कि मंदिरों के जीर्णोद्धार में प्राचीनता समाप्त हो जाती है। यही बात खलचीपुर के पार्श्वनाथ मंदिर के लिये भी कही जा सकती है। मुझे वहां की दीवारों में द्वारपाल की प्रतिमाएं दिखाई ही नहीं दी। दशपुर में जैनधर्म के अतिरिक्त और भी ऐतिहासिक सामग्री और स्थानों का बाहुल्य है।

(4) मांडवगढ़[13] : मांडवगढ़ इतिहास प्रसिद्ध स्थानों में से एक है। यह आज भी देशी एवं विदेशी पर्यटकों के लिये आकर्षण का स्थान बना हुआ है। धाराधिपति राजा जयसिंह तृतीय का मंत्री पृथ्वीधर या पेथड़ सेनापति कुशल राजनीतिज्ञ और चरित्रवान पुरुष था। पृथ्वीधर राज्य की उन्नति में सदैव आगे रहता था। उसकी धाक के कारण कोई भी दुश्मन धार पर हमला करने का विचार नहीं करता था। जितना बड़ा वह राजनीतिज्ञ था उतना ही वह धर्मात्मा भी था। उसके समय में मांडवगढ़ में 300 जैन मंदिर थे। उसमें प्रत्येक पर पेथड़शाह के सोने के कलश चढ़े हुए थे। उसी ने यहां ढाई लाख रुपये व्यय करके शत्रुंजय अवतार नामक 72 जिनालयवाला भव्य नया मंदिर बनवाया था। इसी ने भव्य संघ निकाला। इसी ने 72 हजार रुपये से सम्पूर्ण नगर को सजाकर महोत्सवपूर्वक श्री धर्मघोषसूरि का मांडवगढ़ में प्रवेश करवाया था। करोड़ों रुपये खर्च करके 84 स्थानों में जैन मंदिरों का निर्माण करवया तथा 7 सरस्वती भण्डारों की स्थापना करवायी थी।

पृथ्वीधर के पश्चात् मांडवगढ़ के मंत्री पद पर उसका पुत्र झांझण नियुक्त हुआ। यह भी अपने पिता के समान ही पराक्रमी था। यह भी कुशल राजनीतिज्ञ और धार्मिक प्रकृति का था। इसने संवत् 1349 में करोड़ों रुपये व्यय करके शत्रुंजय का संघ निकाला था। करेड़ा में सात मंजिला भव्य मंदिर बनवाया था। इसके छः पुत्र थे, जो सभी या तो मंत्री पद पर थे या राज्य में उच्च अधिकारी थे।

मांडवगढ़ में 300 जैन मंदिर थे तथा एक लाख जैन घरों की आबादी थी जिसमें सात लाख जैनी निवास करते थे। ऐसी किंवदंती है कि यहां जब भी कोई

नया जैन रहने आता तो उसको प्रत्येक घर से एक स्वर्णमुद्रा व एक ईंट दी जाती थी जिससे रहने के लिये मकान बनता था और आनेवाला लखपति बन जाता था। इसी से मांडवगढ़ की सम्पन्नता का अनुमान लगाया जा सकता है।

(5) धार : धार मालवा के पराक्रमी और संस्कार प्रिय राजा मुंज और प्रसिद्ध विद्वान् राजा भोज की राजधानी थी। धनपाल जैसा प्रकाण्ड विद्वान् भी यहीं की राजसभा की शोभा था। इसी धनपाल के बनाये ग्रंथ आज जैन साहित्य की अमूल्य निधि है। राजा भोज के समय कितने ही जैनाचार्य यहां आकर रहे थे। सन् 1310 ई. में जयसिंह चतुर्थ तक यह परमारों के आधिपत्य में रही फिर इस पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। सन् 1325 में मुहम्मद तुगलक ने पहाड़ी पर एक किला बनवाया था। मुस्लिम शासनकाल में कितने ही हिन्दू और जैन मंदिर खंडित किये गये और अनेक को मस्जिदों में परिवर्तित कर दिया गया जिसका उदाहरण भोज द्वारा निर्मित भोजशाला है। मुसलमानों के अत्याचारों से यहां के जैनियों की संख्या घटने लगी थी। अभी यहां पर्याप्त मात्रा में श्वेताम्बर जैन मूर्तिपूजक रहते हैं।[14]

एक मंदिर बनियाखेड़ी में है जो प्राचीन है। मूलनायक आदीश्वर की प्रतिमा श्वेतवर्णी है तथा 4-5 फुट ऊंची है जिस पर सं.1203 का लेख है। इसमें क्षेत्रसूरि द्वारा मूर्ति प्रतिष्ठित करवाने का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इस मंदिर में और भी प्रतिमाएं हैं जिन पर संवत् 1362, 1328 और 1547 के लेख हैं। जब ये प्रतिमाएं प्रतिष्ठित की गई थी।

धार वैसे परमार राजाओं की राजधानी रही है जिसके परिणाम स्वरूप अनेक जैन और जैनेतर विद्वानों का यह केन्द्र थी। परमार काल में यहां संगमरमर का जैन मंदिर भी बना।[15]

(6) बावनगजा - बड़वानी : खरगोन जिले का यह प्रसिद्ध नगर दिगम्बर मतावलम्बियों का तीर्थस्थान है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार यहां से दक्षिण की ओर चूलगिरि शिखर से इन्द्रजित, कुम्भकर्ण आदि मुनि मोक्ष पधारे।[16] इस स्थान का नाम सिद्धनगर भी है। यह सिद्धक्षेत्र है। यहां से साढ़े पांच करोड़ मुनि मोक्ष गये बताये जाते हैं। चूलगिरि पर्वत के नीचे दो जैन मंदिर और दो जैन धर्मशालाएं हैं। एक मंदिर में बावनगजाजी (आदिनाथजी) की पहाड़ में खोदी 84 फुट ऊंची मूर्ति है। लोग इसे कुंभकर्ण की मूर्ति कहते हैं। पास में इन्द्रजित की मूर्ति है। पर्वत पर 22 जैन मंदिर और एक चैत्यालय है।[17] संवत् 1223 में इस 84 फुट ऊंची मूर्ति का जीर्णोद्धार हुआ था।[18] मंदिरों के जीर्णोद्धार का समय वि.सं.1233, 1380 एवं 1580 है। प्रतिष्ठाचार्यों के नाम नन्दकीर्ति और रामचन्द्र है।[19] संवत् 1223 में मूर्ति

के जीणोद्धार से यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि यह स्थान भी प्राचीन तीर्थस्थानों में से एक है।

(7) ऊन : 'ऊन' खरगोन नगर से पश्चिम में स्थित है। यहां 11वीं एव 12वीं सदी के मंदिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन मंदिरों के निर्माण के समय इस प्रदेश पर परमार वंश का शासन था। मालवा में परमार काल में जैनधर्म की बहुत अधिक प्रगति हुई।

इस स्थान को प्राचीन पावागिरि बताया जाता है। इसका प्राकृत निर्वाणकाण्ड में दो बार उल्लेख आया है। यथा-

रामसुआवेण्णि जणा लाडणरिदाण पंच कोडीओ।
पावागिरि वरसिहरे णिण्वाण गया णमो तेसिं।।5।।
पावागिरि वरसिहरे सुवण भद्दाई मुणिवरा चउरो।
चलणा णई तडग्गे णिव्वाण गया णनो तेसि।।13।।

चूंकि इस क्षेत्र के आसपास सिद्धवरकूट तथा बड़वानी के दक्षिण में चूलगिरि शिखर का सिद्धक्षेत्र है तथा आसपास और भी अवशेष व स्थल है, यह स्थान दूसरा पावागिरि लगता है।[20] नाथूराम प्रेमी[21] दूसरा पावागिरि ऊन को नहीं मानते। वे ललितपुर एवं फांसी के निकट 'पवा' नामक ग्राम को पावा शब्द के अधिक निकट मानते हैं। डॉ.जगदीशचन्द्र जैन ने ऊन पावागिरि के सम्बन्ध में लिखा है कि यह तीर्थ भी अर्वाचीन है।[22] डॉ.जैन आगे लिखते हैं कि इनका नवनिर्माण दिगम्बर भट्टारकों और धनिकों ने कर डाला है।[23] यही बात नाथूराम प्रेमी ने इस प्रकार कही है- "अभी तक दूसरे पावागिरि का कोई पता नहीं था, परन्तु अब कुछ धनिको और पंडितों ने मिलकर इन्दौर के पास 'ऊन' नामक स्थान को पावागिरि बना डाला है और वहां धर्मशाला मंदिर आदि निर्माण करके बाकायदा तीर्थ स्थापित कर दिया है।[24] विक्रम की सत्रहवीं सदी के ज्ञानसागर ने अपनी तीर्थावली में ऊन का उल्लेख किया है। वहां शिखर बन्ध मंदिर है। परन्तु पावागिरि नाम उन्हें मालूम नहीं था। महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष के अनुसार ऊन में एक जैन मंदिर बारहवीं सदी का है। उसमें धार के परमार राजा का शिलालेख है। तात्पर्य यह कि इतने प्राचीन उल्लेखों में ऊन को पावागिरि नहीं कहा गया। डॉ.हीरालाल जैन का कथन है कि उल्लिखित चलना या चेलना नदी संभवतः ऊन के समीप बहने वाली यह सरिता है जो अब चंदेरी या चिरूड़ कहलाती है। नि.का. की 13वीं गाथा से पूर्व ही रेवा (नर्मदा) के उभयतट, उसके पश्चिम तट पर सिद्धवरकूट तथा बड़वानी नगर के दक्षिण में चूलगिरि शिखर का सिद्धक्षेत्र के रूप में उल्लेख है।[25] इन्हीं स्थलों के समीपवर्ती होने से यह स्थान पावागिरि

प्रमाणित होता है। ग्राम के आसपास और भी अनेक खंडहर दिखाई देते हैं। जनश्रुति है कि यहां बल्लाल नामक नरेश ने व्याधि से मुक्त होकर सौ मंदिर बनवाने का संकल्प किया था, किन्तु अपने जीवन में वह 99 ही बनवा पाया। इस प्रकार एक मंदिर कम रह जाने से यह स्थान 'ऊन' नाम से प्रसिद्ध हुआ।[26] हो सकता है कि ऊन नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिये ही यह आख्यान गढ़ा गया हो। किन्तु यदि उसमें कुछ ऐतिहासिकता हो तो बल्लाल होयसल वंश के वीर बल्लाल हो सकते हैं जिनके गुरु एक जैन मुनि थे। इस प्रकार हमें डॉ.हीरालाल जैन का मत ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि ऊन आज भी अपने इस दो अक्षर वाले नाम से अधिक परिचित एवं प्रसिद्ध है। ऊन में उपलब्ध अवशेषों से स्पष्ट है कि यह एक दिगम्बर मतावलम्बियों का तीर्थस्थल है। क्योंकि यहां प्राप्त लगभग समस्त प्रतिमाएं दिगम्बर संप्रदाय की है।

समग्र रूप से ऊन एक पवित्र तीर्थ के साथ ही साथ स्थापत्य कला का वैभव भी अपने में समेटे हुए है।

(8) धमनार : धमनार अथवा धर्मराजेश्वर के नाम से परिचित यह ग्राम मन्दसौर जिले में स्थित है। यहां बाजार में आदिनाथ का घूमट बंधी मंदिर है। यहीं पर एक पहाड़ी है जिसका व्यास 3-4 मील का है तथा ऊंचाई 140 फीट है जिसके ऊपर का भाग मैदान जैसा सपाट है और उसके चारों ओर प्राकृतिक दीवार बनी हुई है। यहां कुछ गुफाएं हैं जिनकी कोई निश्चित संख्या नहीं कही जा सकती। सन् 1821 में कर्नल टाड ने जब यहां का निरीक्षण किया था तब उसने उनकी संख्या लगभग 170 गुफाएं बताई।[27] कर्नल टाड के साथ उनके धर्मगुरु जैन यति भी थे और उन्होंने ही टाड को इन गुफाओं को जैन गुफा होना बताया था।[28] यह भी उल्लेखनीय है कि सबसे पहले जेम्स टाड ने ही इस गुफा समूह को जैनधर्म से सम्बन्धित बताया है और उसी के आधार पर इस स्थान का जैनतीर्थ के रूप में वर्णन कर इसके महत्त्व को जैनधर्म के लिये बढ़ाने का प्रयास जैनतीर्थ सर्वसंग्रह भाग दो नामक ग्रन्थ में किया गया है। जबकि अन्य विद्वानों के अनुसार ये गुफाएं बौद्धधर्म से सम्बन्धित प्रमाणित होती है। इन गुफाओं का समय 5-6 सदी के लगभग निश्चियत किया गया है।[29] वास्तविकता कुछ भी रही हो आज तो धमनार की ये गुफाएं जैनतीर्थ का रूप ले चुकी हैं।

(9) बही पारसनाथ : वई या बही पारसनाथ से प्रसिद्ध श्वेताम्बर तीर्थ मन्दसौर से चित्तौड़ की ओर पिपलिया नामक स्टेशन से 3 मील की दूरी पर स्थित है। यहां एक आश्रम और दो धर्मशालाएं हैं। मूल नायक श्रीवई पार्श्वनाथ का शिखर बंध मंदिर है। जो श्रीसंघ द्वारा लगभग 1000 वर्ष पूर्व बनवाया गया

था।[30] यहां की मूर्ति आदि पर कोई लेख नहीं है किन्तु रचना शैली के आधार पर इसका स्थापत्य प्राचीन प्रतीत होता है। मंदिर के द्वारों की चौखट और विशेषकर गर्भगृह के द्वार की चौखट पर जो उत्कीर्णन है ठीक वैसा ही उत्कीर्णन चित्तौड़गढ़ स्थित चौबीसी के गर्भगृह की चौखट पर है। चित्तौड़गढ़ स्थित चौबीसी का समय 10वीं 11वीं शताब्दी है। इससे वई पारसनाथ का समय भी लगभग यही प्रमाणित होता है। गर्भगृह के द्वार की चौखट के ऊपर और भी कुछ मूर्तियां खुदी है किन्तु उन पर सीमेंट का प्लास्टर कर दिया गया है। जब मैंने इसका कारण वहां के पुजारी से जानना चाहा तो उत्तर मिला कि ऊपर की मूर्तियां अश्लील होने के कारण प्लास्टर कर दिया गया है फिर भी इस मंदिर में 10वीं 11वीं सदी की कला के उत्तम उदाहरण देखने को मिलते हैं। दीवारों में जो मूर्तियां हैं वे श्यामवर्णी है। यहां प्रतिवर्ष पौष सुदी 10 को मेला लगता है।

(10) घसोई : रतलाम से कोटा रेलवे लाईन के स्टेशन सुवासरा से 7 मील की दूरी पर यह ग्राम घसोई स्थित है। इस ग्राम में एक उपाश्रय और एक जैन मंदिर है। मूलनायक श्री पार्श्वनाथ भगवान का यह मंदिर घूमट बंधी है तथा इसमें चार प्रस्तर प्रतिमाएं और एक धातु प्रतिमा है। इस गांव के पास ही एक विशाल जलाशय था जो अब सूख गया है। इस जलाशय में से जैनधर्म से सम्बन्धित कितने ही अवशेष प्राप्त हुए हैं।[31] मूर्तियां आदि कालक्रमानुसार परमारकालीन प्रतीत होती है। यह भी श्वेताम्बरों का ही तीर्थ है।

(11) गंधावल : गंधावल या गंधर्वपुरी देवास जिले की सोनकच्छ तहसील के उत्तर में पांच मील की दूरी पर स्थित है। यहां पर जैन एवं अजैन दोनों ही धर्मावलम्बियों के देवालयों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यहां दर्जनों जैन प्रतिमाएं बिखरी पड़ी हैं जिनमें कुछ विशिष्ट प्रस्तर प्रतिमाओं का संक्षिप्त परिचय अनेकांत[32] में प्रकाशित हुआ है। मध्य युग में यहां जैनियों का दिगम्बर सम्प्रदाय सम्भवतः अधिक प्रभावशाली था, क्योंकि प्राप्त प्रतिमाएं यद्यपि पर्याप्त रूप में खण्डित हो गई हैं, तो भी खड्गासन नग्न मूर्तियां ही यहां अधिक है।[33] ऐसा लगता है कि प्राचीन अवशेषों के प्राप्त होने के कारण ही यहां जैनधर्मावलम्बी दर्शनार्थ आने जाने लगे और इसे एक तीर्थ का रूप मिल गया। वैसे यहां तीर्थंकरों की ही प्रस्तर प्रतिमाएं अधिक मिली हैं। ग्राम के नाम के अनुसार इसका सम्बन्ध राजा गंधर्वसेन से भी किंवदन्ति के अनुसार जोड़ा जाता है।

(12) लक्ष्मणी : मालवा और निमाड़ की सीमा पर अलीराजपुर से 5 मील की दूरी पर लक्ष्मणी ग्राम स्थित है। यह स्थान एक ओर जंगल में स्थित है तथा दोहद रेलवे स्टेशन से अलीराजपुर होते हुए यहां आना पड़ता है। अभी तक इस

तीर्थ का किसी को पता नहीं था किन्तु यहां 14 जिन प्रतिमाएं भूगर्भ से प्राप्त हुई। फिर यहां खोज हुई जिसके परिणामस्वरूप पांच से सात मंजिले सात जिनालय, एक भव्य बावन जिनालय और वर्गाकार भूमि पर एक जैन मंदिर के स्तम्भ, तोरण, जैन मूर्तियां आदि प्राप्त हुई। इन अवशेषों से विदित होता है कि यह तीर्थ पर्याप्त प्राचीन है।[34] संवत् 1427 में निमाड़ की जैनतीर्थ यात्रा पर निकले तीर्थयात्री श्री जयानंद ने अपने प्रवास गीति में इस तीर्थ का उल्लेख इस प्रकार किया है:-

"मांडवनगोवरि सगसया, पंच ताराउर वरा
विंस इग सिंगारि तारणनंदुरी द्वादश परा।
हत्थिनी सग लक्षमणीउर, इक्कसय सुहजिणहरा,
भेटिया अणूब जणवए, मुणि जयाणंद पवरा।।
लक्खतिय सहस बि पणसय, पणसयस्स सगसाय,
सय इगविंस दुसहसि सयल, दुन्नि सहस कणगमया।
गाम गामि भत्तिपरायण, धम्ममम्म सुजाणगा,
मुणि जयाणंद निरक्खिया सबल समणोपासगा।।

इस अवतरण से विदित होता है कि 15वीं शताब्दी में जैन श्रावकों के यहां लगभग 2000 घर थे तथा 101 शिखरबंध जैन मंदिर थे।

सुकृत सागर में ऐसा उल्लेख मिलता है कि पेथड़ मंत्रीश्वर के पुत्र झांझणकुमार ने मांडवगढ़ से शत्रुंजय का संघ निकाला था जो लक्ष्मणीपुर आया था। कहने का तात्पर्य यही है कि यह तीर्थ चौदहवीं शताब्दी तक पूर्णरूपेण समस्त जैन धर्मावलम्बियों को विदित था। इससे इस तीर्थ की प्राचीनता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त यहीं एक प्रमाण और है जो इस तीर्थ की प्राचीनता सिद्ध करता है। वह यह है कि यहां एक अभिलेख है जो सं.1093 वर्ष वैशाख सुदि सप्तम्यां का है इतना ही पढ़ने में आता है किन्तु इससे तीर्थ की प्राचीनता तो प्रमाणित हो ही जाती है। मूलनायक के आसपास नेमिनाथ और श्री मल्लिनाथ की 32 इंच मूर्ति है। दायी ओर महावीर स्वामी की 32 इंच मूर्ति है। ऐसा कहा जाता है कि इस मूर्ति पर सम्प्रति के समय के चिह्न विद्यमान हैं। आदिनाथ की दो प्रतिमाएँ 13 इंच की हैं, जिनमें से एक प्रतिमा पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है:-

"सवंत् 1320 वर्ष माघ सुदि 5 सोम दिने प्राग्वाट जातिय मंत्री गोसल तस्य चि. मंत्री गंगदेव तस्य पत्नी गांगदेवी तस्या पुत्र मंत्री पदम तस्य भार्या गोमति देवी तस्य पुत मं.संभाजीना प्रतिष्ठितं।।"

इस तीर्थ को राजा सम्प्रति के समय का प्रमाणित करने का तो प्रयास

अनुचित प्रतीत होता है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि यह तीर्थ 10वीं 11वीं शताब्दी का हो सकता है।

(13) तालनपुर : दोहद रेलवे स्टेशन से 73 मील और कुक्षी से 2¼ मील की दूरी पर तालनपुर नामक एक प्राचीन जैनतीर्थ है। इसका प्राचीन नाम तुगियापतन या तारणपुर है। सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में यहां समस्त आबादी थी और यहीं पर श्री परम देवार्य ने चातुर्मास किया था तथा श्री महावीर जिनश्राद्ध कुलक नामक ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ की प्रशस्ति में इस प्रकार उल्लेख मिलता है:-

"संवत् 1528 वर्ष आश्विन सिते 5 तिथां तुंगियापत्तने लिखितमिदं श्रीमहावीर जिनश्राद्ध कुलक परमदेवार्य स्वपरपठननार्थम्।

संवत् 1916 में यहां 25 जैन प्रतिमाएं निकली। संवत् 1950 में कुक्षी में जैनसंघ ने एक मंदिर बनवाया था। उसी में जैन मूर्तियां प्राप्त हुई। इन प्रतिमाओं पर कोई लेख नहीं है किन्तु निर्माण शैली के आधार पर ये प्रतिमाएं विक्रम की छठी सातवीं शताब्दी की प्रतीत होती है। मूलनायक श्री गोड़ी पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा पर इस प्रकार का लेख है।

"स्वस्ति श्री पार्श्वनाथ जिनप्रसादात संवत् 1022 वर्षा मासे फाल्गुने सुदि पक्षे 5 गुरुवारे श्रीमान् श्रेष्ठिसुत्राज राज्ये प्रतिष्ठतं श्री बप्पभट्टिसूरिभिः तुंगियापत्तने।"

दूसरा मंदिर आदिनाथ का है। मूलनायक के दाहिनी ओर चौथी प्रतिमा के आसन पर एक लेख है जो इस प्रकार है:-

संवत् 612 वर्ष शुभचैत्रमासे शुक्लं च पंचम्यां तिथौ भौमवासरे श्रीमंडपदुर्गे मध्यभागे तारापुर स्थित पार्श्वनाथ प्रसादे गगनचुम्बी (बि) शिखरे श्री चन्द्रप्रभ बिबस्य प्रतिष्ठा कार्या प्रतिष्ठाकर्त्ता च धनकुंवर शा. चन्द्रसिंहस्य भार्या जमुना पुत्र श्रेयोर्थ प्र. जगच्चंद्रसूरिभिः।।"

इस लेख में संवत् 612 विचारणीय है, क्योंकि उस समय मांडवगढ़ के अस्तित्व का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं था, उपलब्ध प्रमाणों से तो 'संवत् 671' में महाराजा वाक्पतिराज के पुत्र वैरीसिंह की अधीनता में मांडवगढ़ होना प्रमाणित हुआ है, इसके पहले के प्रमाण अभी नहीं मिले हैं।[35]

अतः यहां शायद "संवत् 1612" संभवित दिखता है। इस जमाने में मांडवगढ़ में महमूद खिलजी के दीवान चांदाशाह का उल्लेख इतिहास में मिलता है। संभव है कि इस लेख में धनकुबेर के विशेषण से उल्लिखित शा. चन्द्रसिंह शायद ये ही चांदाशाह हो।[36]

यहां कार्तिक पूर्णिमा और चैत्र की पूर्णिमा पर प्रतिवर्ष मेला लगता है। इस ग्राम के आसपास के अवशेष इस ग्राम की प्राचीनता और समृद्धि के द्योतक हैं।

(14) चन्देरी : पश्चिमी रेलवे की बीना कोटा शाखा पर रेलवे स्टेशन मुंगावली से 39 कि.मी. तथा मध्य रेलवे के ललितपुर जिला झांसी स्टेशन से 33 कि.मी. की दूरी पर चंदेरी है जो म.प्र. के गुना जिले में स्थित है। यह ऐतिहासिक स्थान है। जहां दुर्ग, नगरकोट, राजभवन एवं अनेक जलाशय है। नगर के मध्य चौबीसी जैन बड़ा मंदिर है जिसमें समान माप की पद्मासन पुराणोवत वर्ण की 24 प्रतिमाएं अलग-अलग शिखरबंध कोठरियों में विराजमान है।

नगर के समीप एक पहाड़ी में गुहा मंदिर है। कंदराओं से खंदार नाम पड़ गया। आदिनाथ मूर्ति की ऊंचाई 25 फीट है परन्तु इस पर लेख नहीं है। प्राप्त मूर्ति लेखो में प्राचीनतम सं.1283 वि. का है जिसमें निर्माणकर्त्ता का नाम अंतेसाह लंबकुंचक है। सं.1690 वि. में उत्कीर्ण अनेक मूर्तियां एक अन्य गुहा में है। भट्टारक पद्मकीर्ति का स्मारक है जिसमें चरण पादुकाओं पर वि.सं.1217 अंकित है।

नगर से 14 कि.मी. दूर उत्तर पश्चिम दिशा में बूढ़ी चन्देरी (प्राचीन चन्देरी) है। जहां दुर्ग प्राचीर राजभवन और अनेक जिनालय है। अनेक मूर्तियां जो यत्र-तत्र पाई गई है संग्रहालय में रखी गई है। अंग विन्यास में समानुपात दृष्टव्य है। निर्माणकाल और निर्माणकर्त्ता का नाम किसी मूर्ति पर नहीं है। मूर्तियां प्राचीन है। इनकी कला देवगढ़ की गुप्तकालीन मूर्तियों जैसी उत्कृष्ट है।

(15) बजरंगगढ़ : गुना से आठ किलो मीटर की दूरी पर प्राचीन लघुनगर है जहां दुर्ग प्राचीर और अनेक भग्नावशेष हैं। इसे राजा जयसिंह ने बसाया था जो बजरंग (हनुमान) के भक्त थे। यहां भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ की सुन्दर खड्गासनस्थ मूर्तियां एक भव्य जिनालय में है जिन पर सं.1236 वि. अंकित है। यह मंदिर सेठ पाड़ासाह का कहा जता है। परन्तु उनका नाम मूर्ति लेखों में नहीं है। मूर्तियां मनोहारी है।

(16) तूमैन : अशोकनगर से 9 कि.मी. की दूरी पर एक प्राचीन ग्राम है। बौद्ध ग्रन्थों में इसका उल्लेख तुम्बवन के नाम से हुआ है और जैन ग्रंथो में सर्वत्र आर्य वज्र का जन्म स्थान तुम्बवन बताया गया है। उनमें से कुछ प्रमाण हम यहां दे रहे हैं[37]-

(1) आवश्यक नियुर्क्ति (दीपिका भाग 1 पत्र 136-2)

(2) आवश्यक चूर्णि प्रथम भाग पत्र 390

(3) आवश्यक हारिभद्रीप टीका प्रथम भाग पत्र 289-1

(4) आवश्यक मलयगिरि टीका द्वितीय भाग पत्र 387-1
(5) उवस्स माला सटीक पत्र 207
(6) प्रभावक चरित्र पृष्ठ 3
(7) ऋषिमंडल प्रकरण पत्र 192-1
(8) परिशिष्ठ पर्व सर्ग 12 द्वितीय संस्करण पृष्ठ 270
(9) कल्पसूत्र किरणावली पत्र 170-1
(10) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पत्र 511

वज्रस्वामी के पिता धनगिरि इस तुम्बवन के रहने वाले थे।[38] तुम्बवन का उल्लेख तूमैन में मिले एक शिलालेख में भी है। इस शिलालेख में कुमारगुप्त के शासनकाल में एक मंदिर बनवाये जाने का उल्लेख है।[39]

तुम्बवन की स्थिति अब पुरातत्व से निश्चित हो गई है। प्राचीनकाल के तुम्बवन का अर्वाचीन नाम तूमैन है। यह स्थान गुना जिले में है।[40]

इस ग्राम तूमैन में अनेक भग्नावशेष हैं। एक मूर्ति महावीर की 9वीं शताब्दी की है जो पद्मासनस्थ होने से ग्रामीणों द्वारा "बैठा देव" के नाम से पूजी जाती है। सतियों के कई स्मारक है। कलापूर्ण मंदिरों में मूर्तियां न होने से उन्हें ग्रामीणों ने पशुशाला या निवास गृह बना लिया है।

अतः तीर्थ तूमैन एक प्राचीन तीर्थ है। किन्तु यह स्थान प्रकाश में नहीं आ सका ऐसा प्रतीत होता है।

(17) भोपावर : रतलाम से बम्बई की ओर मेघनगर रेलवे स्टेशन से 40 मील की दूरी पर राजगढ़ नामक स्थान है। राजगढ़ के दक्षिण की ओर 5 मील की दूरी पर भोपावर नामक जैनतीर्थ है जो धार जिले में स्थित है। यह ग्राम माही नदी के किनारे पर बसा है। भोपावर को कुछ विद्वान् प्राचीन "भोजकट नगर" मानते हैं। किन्तु यह बात सही नहीं जान पड़ती। इसको श्री जम्बूविजयजी ने अपने "भोजकट" नामक निबंध में इस स्थान का निर्धारण किया है जो भोपावर न होकर अन्यत्र है। यद्यपि यहां जैन मतावलम्बियों का एक भी घर नहीं है किन्तु लगभग 75 वर्ष पूर्व यहां सब कुछ था। यहां एक जैन धर्मशाला और शांतिनाथ का सुन्दर शिखरबंध कोटयुक्त एक जैन मंदिर विद्यमान है। मूलनायक की प्रतिमा बारह फुट ऊंची है जो भव्य एंव तेजस्वी है। हाथ के नीचे देवियों की प्रतिमाएं हैं। मूलनायक के बांयी ओर शांतिनाथ, चन्द्रप्रभ की मूर्तियां है जिसके बाहर के भाग में अभी हाल ही में शीतलनाथ की प्रतिष्ठा करवाई गई है। ऊपरी भाग में चन्द्रप्रभु और महावीर स्वामी जम्बुस्वामी और आत्माराम की प्रतिमाएं विद्यमान है।[41]

इस मंदिर के सभा मंडप और शिखर में कांच का काम है। देरासर के नीचे के भाग में एक प्राचीन जैन मंदिर का होना प्रतीत होता है। क्योंकि उसका शिखर भाग ऊपर से दिखाई देता है। यहां प्रतिवर्ष मगसर कृष्ण पक्ष की दसमी को मेला लगता है।

(18) बिबड़ौद : यह स्थान रतलाम से 6 मील तथा सांगोदिया जैनतीर्थ के पश्चिम की ओर $2^{1/2}$ मील की दूरी पर स्थित है। यह श्वेताम्बर जैनों का प्राचीन तीर्थ माना जाता है। विशाल बाड़े में देरासर युक्त सौंध शिखरी मंदिर सं.1300 में बना बताया जाता है। यहां का मंदिर केसरियानाथजी के मंदिर के नाम से पुकारा जाता है।

मध्य के जिनालय में ऋषभदेव की $1^{1/4}$ हाथ बड़ी प्रतिमा विराजमान है। यह प्रतिमा बैलू की बनी हुई है। इस पर लेख खुदा है। बाहर के भाग में श्यामवर्ण की 2 प्रतिमाएं हैं और पद्मासन की स्थिति की 6 जैन प्रतिमाएं विराजमान है। सभी मूर्तियां प्राचीन प्रतीत होती है। पीछे के भाग में दो देरासर में पार्श्वनाथ और अगले भाग के देरासर में चन्द्रप्रभस्वामी आदि की श्वेतवर्ण की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित हैं।[42]

इस मंदिर के पास एक किले के भग्नावशेष हैं। यात्रियों के लिये यहां एक धर्मशाला है। यहां प्रतिवर्ष पौष कृष्णपक्ष की 10वीं से अमावस्या तक मेला लगता है। यह जैनों का प्राचीन तीर्थ है किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि यहां एक भी जैन धर्मानुयायी का घर नहीं है।

(19) सांगोदिया : यह ग्राम रतलाम से 4 मील दूर है तथा ग्राम से 1 मील की दूरी पर श्वेताम्बर जैनतीर्थ के नाम से श्री ऋषभदेव भगवान का शिखरबंध मंदिर है। मूलनायक की श्यामवर्ण की प्रतिमा 2 हाथ ऊंची है। अन्य छोटी बड़ी 7 प्रतिमाओं के साथ 2 मूर्तियां अधिष्ठायक देवताओं की भी है। यात्रियों के ठहरने के लिये मंदिर के पास ही धर्मशाला है। प्रतिवर्ष कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा के दिन मेला लगता है। इस स्थान पर भी जैन धर्मानुयायियों का एक भी घर नहीं है।[43]

(20) सेमलिया : रतलाम के पास नामली रेलवे स्टेशन से 2 मील की दूरी पर सेमलिया नामक प्राचीन ग्राम है। यहां 1 उपाश्रय, 1 जैन धर्मशाला, 1 पुस्तक भण्डार और एक मजैन मंदिर है।

तीन शिखरवाले इस जैन मंदिर में मूलनायक शांतिनाथ की श्यामवर्ण की प्राचीन प्रतिमा 3 हाथ ऊंची बेलूरी बनी है। मूलनायक की बांयी ओर शांतिनाथ और कुंथुनाथ की तीन-तीन फीट ऊंची प्रतिमाएं हैं जिनके ऊपर संवत् 1543 के लेख विद्यमान हैं। लगभग इसी समय इस मंदिर का जीर्णोद्धार हुआ था।[44]

इस मंदिर को कब और किसने बनवाया इसकी कोई जानकारी नहीं मिलती किन्तु किंवदंति है कि कोई सक्षम यति इस मंदिर को कहीं से उड़ाकर यहां लाये थे। इसके जीर्णोद्धार के समय इसका प्राचीन भाग नष्ट हो गया किन्तु मंडप में अभी भी प्राचीनकाल के चार स्तम्भ विद्यमान है जिनके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि यह मंदिर 12वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं है। भादवा शुक्ल द्वितीया को प्रतिवर्ष यहां मेला लगता है।[45]

(21) सिद्धवरकूट : यह स्थान बड़वाह से 6 मील, मोरटक्का से 7 मील तथा सनावद से 8 मील दूर है। अजमेर से निकलने वाले 'जैनप्रभाकर' पत्र में यह प्रकाशित हुआ था कि धारा के हट जाने से औंकारेश्वर के पास पुराने मंदिरों के कुछ अवशेष निकल आये हैं और यह अनुमान किया गया कि यहीं निर्वाणकाण्ड का सिद्धवरकूट था। यहां का राजा भिलाला जाति का है और इस वंश का अधिकार सन् 1135 से औंकारेश्वर पर चला आ रहा है।

संवत् 1746 में निकलनेवाले तीर्थयात्री श्री शीलविजयजी ने अपनी तीर्थमाला में नर्मदा के पास के समस्त जैन अजैन तीर्थों का वर्णन किया है। पहले शैवों के मांधाता का वर्णन करके, जो वर्तमान सिद्धवरकूट के बहुत पास है, वे खण्डवा और बुरहानपुर की ओर चले जाते हैं। तीर्थावली में भी जो कि सत्रहवी शताब्दी की है, सिद्धवरकूट का नाम नहीं है, पर खण्डवा का है। इससे मालूम होता है कि उस समय इस तीर्थ का अस्तित्व नहीं था। डॉ.जगदीशचन्द्र जैन ने भी इसे काफी अर्वाचीन तीर्थ माना है।[46] पं.परमानंद जैन शास्त्री[47] अपनी तीर्थयात्रा के संस्मरण के समय सिद्धवरकूट के विषय में लिखते हैं कि निर्वाणकांड की गाथा में उसका उल्लेख इस प्रकार हैः-

रेवा णहए तीरे पच्छिमभायम्मि सिद्धवरकूटे।
दो चक्की दहकप्पैआहुट्ठ य कोडि णिव्बुदे वंदे।।

परन्तु कुछ अन्य प्रतियों में उक्त गाथा की बजाय निम्न दो गथाएं उपलब्ध होती हैं जिनमें द्वितीय गाथा के पूर्वार्ध में संभवनाथ की केवलुप्पुतित का उल्लेख किया गया है- जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होताः-

रेवा तडम्मितीरे दिव...भायम्मि सिद्धवरकूटे।
आहुट्ठय कोडीओ णिव्वाण गया णमो तेसिं।।
रेवा तडम्मि तीरे सम्भवण हस्स केवलुप्पतित।
आहुट्ठ कोडीओ णिव्वाण गया णमोतेसिं।।

संस्कृत सिद्धभक्ति में भी 'वरसिद्धकूटे' नाम से उल्लेख मिलता है। ब्रह्मश्रुतसागर में भी सिद्धवरकूट का उल्लेख किया गया है। सिद्धवरकूट की

स्थापना के सम्बन्ध में नाथूराम प्रेमी[48] लिखते हैं कि इसके विधाता भी एक भट्टारकजी थे जिनका नाम महेन्द्रकीर्ति था और जो इन्दौर की गद्दी के अधिकारी थे। उन्होंने औंकारेश्वर के राजा को प्रसन्न करके जमीन प्राप्त की और संवत् 1950 के लगभग इस क्षेत्र की नींव डाली। किन्तु परमानंद जैनशास्त्री का कथन है कि प्राचीन मंदिर जीर्ण हो जाने से सं.1951 माघ बदि 15 को जीर्णोद्धार करवाया गया।[49] तीनों मंदिरों में सम्भवनाथ, चन्द्रप्रभ और पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं मूलनायक के रूप में विराजमान है। सिद्धवरकूट प्राचीन स्थल कहां था यह अभी विचारणीय है पर सिद्धवरकूट नाम का एक तीर्थ नर्मदा के किनारे पर अवश्य था। यह वही है इसे प्राचीन प्रमाणों से सिद्ध करने की आवश्यकता है। वर्तमान क्षेत्र का प्राचीन क्षेत्र से क्या कुछ सम्बन्ध रहा है?

(22) मक्सी पार्श्वनाथ : मक्सी, भोपाल उज्जैन रेलवे लाईन पर स्थित है तथा भोपाल से 89 मील और उज्जैन से 25 मील की दूरी पर है। मक्सी ग्राम से एक मील की दूरी पर कल्याणपुरा ग्राम में दो जैन मंदिर है, धर्मशालाएं हैं। मंदिर के आसपास छोटे-छोटे 52 जिनालय हैं। यह अतिशय क्षेत्र है। इस मंदिर के निर्माण के सम्बन्ध में अनुमान है कि सम्प्रति राजा व अवन्ति सुकुमाल जो वीर संवत् 290 और विक्रम संवत् से 180 वर्ष पूर्व अवंति नगरी का हुआ है और उनको आचार्य सहुस्तिसूरिजी ने जो कि श्री वीरप्रभु के ग्यारहवें तत्पट्टे हुए हैं, प्रतिबोध देकर जैनधर्म का बहुत उद्योत किया व मक्सी तीर्थ का जीर्णोद्धार व मंदिर बनवाया।[50] किन्तु मक्सी तीर्थ के निर्माण को इतना प्राचीन बताना धार्मिक भावुकता है। मांडवगढ़ के मंत्री संग्रामसिंह ने 1518 के साल में एक श्वेताम्बर जैनमूर्ति की प्रतिष्ठा कराई है, उसके पृष्ठ भाग में सग्राम के पूर्वजों की वंशावली दी गई है। उपर्युक्त लेखों को देखने से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि यह संग्रामसिंह सोनी मक्सी पार्श्वनाथ के मंदिर का निर्माणकर्त्ता है और यहां सं.1518 जैठ शुक्ल 15 गुरुवार को मक्सी मंदिर के मूर्ति प्रतिष्ठा का दिन है।[51] इस प्रकार मक्सी के मंदिर का निर्माणकाल स्वतः प्रमाणित हो जाता है। अतः पूर्व में जो निर्माणकाल बताया गया है वह सही प्रतीत नहीं होता। वास्तव में यह तीर्थ 15वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही स्थापित हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि संग्रामसिंह सोनी ने जैनधर्म के लिये पर्याप्त परिश्रम किया है तथा अन्य अनेक निर्माण कार्य भी करवाये हैं।

(23) परासली : यह ग्राम नागदा मथुरा रेलवे स्टेशन के मध्य सुवासरा रेलवे स्टेशन के पास ही स्थित है। यहां प्राचीन जैन मंदिर की धातु की पंच तीर्थी पर निम्नानुसार लेख उत्कीर्ण है।[52]

"संवत् 1524 वर्ष फागु. सुदि 7 दिने श्रीमाल ज्ञातीय ठाकुता गोत्रे सा. जयता पु.सा. मांडण सुश्रावकेन पु. झांझणादि सही. श्री त्रेयांस विं 11 कारितं प्रति श्री खरतरगच्छे श्री जिनचन्द्रसूरिभिः मंडप दुर्गे।"

इस लेख में उल्लेखित मंडण एवं झांझण मांडवगढ़ के सुप्रसिद्ध मंत्री रहे हैं। साथ ही मंडण एक अच्छा विद्वान् भी था जिसने विभिन्न विषयों की दस पुस्तकों की रचना की।

यह एक श्वेताम्बर तीर्थ है और जैन धर्मावलम्बी इसे पर्याप्त प्राचीन मानते हैं किन्तु यह तीर्थ भी पन्द्रहवी सदी के उत्तरार्ध का ही प्रतीत होता है।

(24) अमझेरा : यह स्थान महू स्टेशन से 50 मील की दूरी पर स्थित है। यहां राठौर वंश का राज था। राठौरों के समय का किला अब खण्डहर रूप में विद्यमान है। कुछ समय यह स्थान अंग्रेजों के आधिपत्य में भी रहा फिर सिंधिया के आधिपत्य में आया। इसका पूर्व नाम कुंदनपुर था और वर्तमान नाम अमझेरा सिंधिया के आधिपत्य में आने के उपरांत रखा गया। यह नाम यहां के जैन मंदिर को अमीझरा पार्श्वनाथ की मूर्ति के आधार पर रखा गया। यहां एक जैन मंदिर और एक उपाश्रय है। शहर के मध्य में शिखरबंध मंदिर में मूलनायक अमीझरा पार्श्वनाथ की श्वेतवर्णी तीन हाथ ऊंची प्रतिमा है जिस पर इस प्रकार लेख उत्कीर्ण है[53]:-

"संवत् 1548 माघकृष्ण तृतीया तिथो भोमवासरे श्रीपार्श्वनाथ बिंब प्रतिष्ठित प्रतिष्ठाकर्त्ता श्री विजयसौमसूरिभिः (रिः) श्री कुन्दनपुर नगरे श्रीरस्तुः।"

इस स्थान पर 6 प्रस्तर प्रतिमाएं तथा 2 धातु प्रतिमाएं विद्यमान है और इस स्थान की गणना श्वेताम्बर तीर्थ के रूप में होती है।

(25) तारापुर : मांडवगढ़ से 2 मील की दूरी पर तारापुर नामक द्वार है। इस द्वार से कुछ दूरी पर तारापुर नामक ग्राम है। यहां जाने का मार्ग अति विषम है ।यहां जाने के लिये पहाड़ उतरना पड़ता है। यहां सुपार्श्वनाथ का मंदिर है। इसमें मूर्ति नहीं है किन्तु मंदिर अच्छी अवस्था में विद्यमान है। इस मंदिर की प्रतिमा आज भी कुक्षी के पास तालनपुर के जैन मंदिर में है जिसके ऊपर सं.1612 का लेख उत्कीर्ण है[54] जिसका उल्लेख हम तालनपुर तीर्थ के अन्तर्गत कर चुके हैं।

मंदिर की चौखट में तीर्थंकर की मंगल मूर्ति और कलश आदि के चिह्न विद्यमान है। लाल पत्थर की वेदी में पूर्व पश्चिम के दोनों 'ताक' तोरण से अलकृंत है। रंगमण्डप 12/18 फीट का है। शिखर में लाल पत्थर की चार नृत्य करती हुई पुतलियां शोभा दे रही हैं। इस मंदिर का निर्माण यहां के सं.1551 के लेख के

अनुसार गयासुद्दीन बादशाह के मंत्री गोपाल ने करवाया था। इससे यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि तालनपुर में सं.612 का जो लेख बताया गया वह वास्तव में सं.1612 का है। प्रारम्भ का अंक 1 प्रक्षाल क्रिया के परिणामस्वरूप घिसकर साफ हो गया होगा।

(26) बनेड़िया : यह स्थान इन्दौर से 28 मील, देपालपुर से 2 मील तथा चम्बल स्टेशन से 14 मील की दूरी पर स्थित है। प्रत्येक मौसम में मोटरों का आवागमन चालू रहता है। यहां के मंदिर को कोई यति उड़ाकर लाया था, ऐसा कहा जाता है। इस तीर्थ की विशेष जानकारी इस प्रकार है:-

(1) शांतिनाथ भगवान की वेदी में कुल 34 प्रतिमाएं हैं जिनमें एक काली प्रतिमा है जो सं.1276 की है।

(2) मूर्तियों पर सं.1548 के लेख से विदित होता है कि इनकी प्रतिष्ठा श्रीजीवाजीराव पापड़ीवाला ने कराई।

(3) मूलनायक अजिनाथ की वेदी में 6 अन्य प्रतिमाएं हैं।

(4) पार्श्वनाथ की वेदी में 29 प्रतिमाएं हैं जिनमें सं.1548 के लेख है।

(5) आदिनाथ की वेदी में कुल आठ प्रतिमाएं हैं जिनमें से तीन प्रस्तर व 5 अष्ठधातु की है।

(6) सभामण्डप में पार्श्वनाथ की वेदी में एक प्रतिमा है।

इस मंदिर का जीर्णोद्धार सं.1961 में हुआ था। यह दिगम्बर मतावलम्बियों का तीर्थस्थल है।

(27) मल्हारगढ़ : इसका पुराना नाम हसनगढ़ है। यह पश्चिमी रेलवे के मुंगावली स्टेशन से 15 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। तारणपंथ के प्रवर्त्तक तारण स्वामी का विशाल स्मारक है जिनका यहां वि.सं.1572 की ज्येष्ठ कृष्ण 6 को हुआ था। उन्होंने यही 14 ग्रन्थों की रचना की थी। तारणपंथ में मूर्तिपूजा का निषेध है। वैत्रवती नदी से $1^{1/2}$ कि.मी. दूर निश्रेयी (निसईजी) है। ग्राम में एक मंदिर है जिसमें सेठ जीवराज पापड़ीवाला द्वारा सं.1548 वि. में प्रतिष्ठित अनेक बिंब है जिनमें पार्श्वनाथ के पद्मासनस्थ दो विशाल बिंब श्वेत पाषाण विनिर्मित मुख्य है। ये वहीं पापड़ीवाल प्रतीत होते हैं जिन्होंने बनेड़िया जिला इन्दौर में मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई थी। यह तारण पंथियों का तीर्थस्थल है।

प्राचीन और उत्तर मध्यकालीन प्रसिद्ध जैनतीर्थ स्थानों का परिचय उपर्युक्तानुसार दिया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी स्थान है जिनको भी जैन मतावलम्बी अपना तीर्थ स्थान मानते हें किन्तु ये पर्याप्त अर्वाचीन प्रतीत हते हैं अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वे कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते केवल

उनका धार्मिक महत्त्व ही है। ऐसे तीर्थ मालवा में निम्नानुसार है।

(1) रतलाम : इस नगर को जैन साहित्य में रत्नपुरी रत्नललामपुरी और धर्मपुरी के नाम से पुकारा गया है। यहां जैन धर्मावलम्बियों की जनसंख्या अधिक है तथा जैन मंदिर भी संख्या में लगभग बारह है। इस कारण इस नगर का आकार अतिशय बढ़ गया और जैनधर्म में तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

(2) थोवनजी : चन्देरी से पश्चिम में सीधे रास्ते से 14 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। परन्तु सड़क से 21 कि.मी. की दूरी पर पड़ता है। यहां 15 भव्य जिनालय है। सबसे पुराना मंदिर शांतिनाथ का है। जो सेठ पाड़ाशाह द्वारा निर्मित कहा जाता है परन्तु मूर्ति पर लेख नहीं है सबसे विशाल मूर्ति आदिनाथजी की है जो 30 फीट ऊंची है, जिसका निर्माण वैसाख सुदि 5 सं.1672 में सेठ बिहारीलाल काला ने कराया था। चन्देरी की विख्यात चौबीसी के निर्माता संघाधिपति सवाईसिंह ने यहां भी एक मंदिर बनवाकर आदनिाथ की 15 फीट ऊंची एक प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई। यह प्राचीन काल का तपोवन क्षेत्र कहा जाता है।

(3) गुरिलागिर : चन्देरी से 11 कि.मी. पूर्व की ओर एक पहाड़ी पर दो मंदिर है। एक में 10 फीट ऊंची मूर्ति है और दूसरे में चौबीसी है। यहां भग्नप्राचीर भी है।

(4) भीमादांत : चन्देरी से 19 कि.मी. दूर बैरसिया ग्राम के समीप एक पहाड़ी पर 6 फीट ऊंची आदिनाथ का पद्मासनस्थ बिंब है। भीमादांत का शाब्दिक अर्थ बड़ी चट्टान है। एक लेख सं.1555 फल्गुन शुक्ला 2 का है जो मलपचन्दसूरि की चरण पादुका पर अंकित है। इस लेख में मालवा के सुलतान गयासुद्दीन खिलजी और चन्देरी के सूबेदार शेरखां के नामों का भी उल्लेख है।

(5) तेरही : ईसागढ़ से 21 कि.मी. दूर है। प्राचीन नाम 'तेराम्मी' था। मधुमती (महुआ) नदी के तट पर अनेक भग्नावशेष हैं। ग्राम के दक्षिण में चौमुखी जैन मूर्ति है।

(6) आमनचार : मुंगावली से 21 कि0.मी. है। जैन मंदिरों के भग्नावशेष है। एक मानस्तम्भ में 'सहस्त्रकूट चैत्यालय' (एक हजार मूर्तियां) उत्कीर्ण है।

(7) मोहनखेड़ा : धार जिले में है। इस तीर्थ का निर्माण आचार्य श्रीविजय राजेन्द्रसूरि के उपदेश से लूणाजी पोरवाल ने वि.सं.1940 में करवाया है।

इस प्रकार मालवा में दोनों ही सम्प्रदाय के पर्याप्त तीर्थ स्थान हैं। लेकिन कहीं-कहीं ऐसा भी पाया जाता है कि जहां कहीं भी किसी प्राचीन स्थल का उल्लेख जैनधर्म से सम्बन्धित किसी ने बता दिया वहीं जैनधर्म का तीर्थ बन

गया। दूसरे जो प्राचीन तीर्थ स्थल हैं जहां का जीर्णोद्धार करवाया गया तब वहां की प्राचीन कला नष्ट हो गई और इस प्रकार वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ रहना पड़ता है। कहीं-कहीं अश्लीलता की आड़ में उत्कीर्ण प्रस्तर खण्डों पर प्लास्टर कर दिया गया। यदि यही भय है तो फिर ऐसे प्रस्तर खण्डों को निकलवाकर संग्रहालयों को सौंप देना चाहिये जिससे कलागत विशेषताएं सामने आ सकें।

संदर्भ सूची

1 जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ 422
2 विक्रम कीर्ति मंदिर स्मारिका, पृष्ठ
3 भाग-2, पृष्ठ 322-325
4 विविध कौमुदी, पृष्ठ 165
5 कल्याण तीर्थांक, पृष्ठ 213
6 अनेकांत, 19/1-2, पृष्ठ 67-68
7 भारत के प्राचीन जैनतीर्थ, पृष्ठ 57
8 दशपुर जनपद संस्कृति, पृष्ठ 120
9 भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पृष्ठ 58
10 दशपुर जनपद संस्कृति, पृष्ठ 119-20
11 वही, पृष्ठ 120
12 वही, पृष्ठ 120
13 जैन तीर्थ सर्वसंग्रह, भाग -2, पृष्ठ 329-332
14 जैन तीर्थ सर्वसंग्रह, भाग-2, पृष्ठ 333
15 उज्जयिनी दर्शन, पृष्ठा 84
16 प्राचीन भारत के जैन तीर्थ, पृष्ठ 58
17 कल्याण तीर्थांक, पृष्ठ 272-73
18 वही, तीर्थांक, पृष्ठ 541
19 जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ 442
20 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 331
21 जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ 430-31
22 प्राचीन भारत के जैनतीर्थ, पृष्ठ 59
23 वही, पृष्ठ 4
24 जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ 529-30
25 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 331-32
26 इन्दौर स्टेट गजेटियर, भाग-1, पृष्ठ 669
27 टाड्स राजस्थान, सं. कुक, पृष्ठ 1773, भाग 2
28 वही, पृष्ठ 1070-71
29 History of India & Eastern Architecture, Vol.II, Page 131
30 जैन तीर्थ सर्वसंग्रह, भाग-2, पृष्ठ 508
31 वही, पृष्ठ 334
32 19/1-2, पृष्ठ 129
33 वही, पृष्ठ 129
34 जैन तीर्थ सर्वसंग्रह, भाग-2, पृष्ठ 313-14
35 मांडवगढ़ तीर्थ, पृष्ठ 43
36 वही, पृष्ठ 44
37 मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 677
38 वही, पृष्ठ 608
39 Selected Inscriptions Vol.I, D.C.Sircar, Page 497 (1942)
40 मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 683
41 जैन तीर्थ सर्वसंग्रह, भाग-2, पृष्ठ 328
42 वही, पृष्ठ 316
43 वही, पृष्ठ 316
44 वही, पृष्ठ 316
45 वही, पृष्ठ 316
46 प्राचीन भारत के जैनतीर्थ, पृष्ठ 58
47 अनेकांत, वर्ष 12, किरण 12 मई 1954,

पृष्ठ 380

48 जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ 442

49 अनेकांत, वही, पृष्ठ 380

50 श्री मक्सी पार्श्वनाथ तीर्थ क्र. संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ 1

51 श्री मांडवगढ़ तीर्थ, पृष्ठ 29

52 वही, पृष्ठ 44

53 जैन तीर्थ सर्वसंग्रह, भाग-2, पृष्ठ 322

54 वही, पृष्ठ 332

अध्याय - 7

जैन वाङ्मय

जैन साहित्य भारतीय साहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है और साहित्य के विविध अंगों को जैन विद्वानों ने अमूल्य देन दी है। यद्यपि जैन साहित्य नैतिक और धार्मिक दृष्टि से लिखा गया है फिर भी उसे साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता। नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से साहित्य सृजन का कारण यह है कि जैन विद्वान् सामान्य जनता के नैतिक जीवन स्तर को ऊंचा उठाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त जैनाचार्यों ने अपना साहित्य जनता की अपनी भाषा में लिखा जिस तथ्य को समझकर ही महावीर और बुद्ध ने इस दिशा में उपक्रम किये थे। पालि/प्राकृत में उनके प्रवचन, संस्कृत में लिखे जाने वाले ब्राह्मण दर्शनों से कहीं अधिक हृदयस्पर्शी होते थे कारण जनता तक उनके पहुंचने में भाषा का व्यवधान आड़े नहीं आता था।

जैन साहित्य का भाषा विज्ञान के दृष्टिकोण से महत्त्व : जैन विद्वानों ने भारतीय साहित्य के विकास के प्रत्येक चरण को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। स्वयं महावीरस्वामी ने अपने उपदेश तत्कालीन सामान्य जनता की भाषा प्राकृत में दिये और इस भावना को महावीर स्वामी के शिष्यों ने निरन्तर रखा। जब प्राकृत भाषा ने लगभग सातवीं शताब्दी में साहित्यिक स्वरूप ग्रहण कर लिया तब जैन विद्वानों ने अपने साहित्य सृजन का माध्यम बदल दिया और तब वे अपभ्रंश में अपना साहित्य लिखने लगे। भारतवर्ष की अनके प्रांतीय भाषाएं जैसे मालवी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि अपभ्रंश के मूल रूप से उत्पन्न हुई है। पुरानी हिन्दी में जैन विद्वानों के द्वारा लिखा गया साहित्य आज भी शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित है जो हिन्दी आदि की उत्पत्ति और उनके क्रमिक विकास के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। हिन्दी से अतिरिक्त भी भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में भी जैन विद्वानों ने साहित्य सृजन किया। साथ ही साहित्यिक भाषा संस्कृत में भी इन विद्वानों ने पर्याप्त साहित्य रचना की।

ऊपर कहा जा चुका है कि जैनाचार्य जन्म कहीं लेते हैं उनकी कर्मभूमि कहीं और होती है एवं उनके साहित्य में उनके जीवन तथा रचनाओं के सम्बन्ध में

ऐसी कोई विस्तृत जानकारी नहीं होती। ऐसी स्थिति में यह पता लगाना बड़ा कठिन हो जाता है कि कौन से आचार्य ने कौनसा ग्रन्थ कब और कहां लिखा फिर भी हम मालवा में सृजित जैन साहित्य पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे, जो जैन साहित्य मालवा में लिखा गया उसको निम्नांकित भागों में विभक्त किया जा सकता है:-

(1) आगमिक और दार्शनिक साहित्य
(2) कथासाहित्य
(3) काव्य
(4) स्तोत्र साहित्य
(5) अलंकार व्याकरण साहित्य
(6) अन्य साहित्य

(1) आगमिक और दार्शनिक साहित्य : जैन साहित्य में आगमिक और दार्शनिक साहित्य का विशेष महत्त्व है। इसमें ग्यारह अंग, बारह उपांग, छः छेद सूत्र, चार मूल सूत्र, दस प्रकीर्णक और दो अन्य सूत्र, अनुयोग द्वार सूत्र और नंदी सूत्र है। इस शाखा को भद्रबाहु की बारह निर्युक्तियां, विशेषावश्यक भाष्य, बीस अन्य प्रकीर्णकों, पर्युषण कल्प, जीत कल्पसूत्र, श्राद्ध जाती कल्प, पाक्षी सूत्र, वन्दित्तुसूत्र, क्षमणसूत्र, यतिजीतकल्प और ऋषिभाषित ने और समृद्ध कर दिया है तथा इस प्रकार सूत्र-संख्या चौबीस तक पहुंच गई है। इस शाखा का अध्ययन प्रत्येक युग में बराबर होता रहा है तथा इस पर टीकाएं, उप-टीकाएं भी अलग-अलग भाषा में समय-समय पर लिखी जाती रही है। न केवल आगम साहित्य में वरन दर्शन साहित्य में भी उत्तरोत्तर समृद्धि हुई तथा जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया।

मालवा में आगमिक और दार्शनिक साहित्य की सर्वाधिक उल्लेखनीय उपलब्धि है। आचार्य भद्रबाहु के कल्पसूत्र के अतिरिक्त क्षपणक ने जो किंवदन्तियों के अनुसार विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक माने जाते हैं, दर्शन शुद्धि, सम्मति तर्कसूत्र, प्रमेयरत्नकोष एवं न्यायावतार ग्रन्थों की रचना की। न्यायावतार ग्रन्थ अपूर्व है। यह अत्यन्त लघु ग्रन्थ है किन्तु इसे देखकर गागर में सागर भरने की कहावत याद आ जाती है। बत्तीस श्लोकों में क्षपणक ने सारा जैन न्यायाशास्त्र इसमें भर दिया है। न्यायावतार पर चन्द्रप्रभसूरि ने न्यायावतार निवृत्ति नामक विशेष टीका भी लिखी है।[1] आगम साहित्य को व्यवस्थित एवं सरल करने का श्रेय आर्यरक्षितसूरि को है। आर्यरक्षित ने आचार्य तोसलीपुत्र से जैन दर्शन एवं दृष्टिवाद का अध्ययन किया फिर गुरु की आज्ञा से आचार्य भद्रगुप्तसूरि तथा

आर्यवज्रस्वामी के समीप रहकर विद्याध्ययन किया। आचार्य आर्यरक्षितसूरि ने बहुजन हिताय बहुजन सुखाय की सार्वजनिक हित की दृष्टि से उत्तम एवं महान् कार्य यह किया कि यह जानकर कि वर्तमान के साथ ही भविष्य में भी जैनागमों की गहनता एवं दुराहवृत्ति से असाधारण मेधावी भी एक बार उन्हें समझने में कठिनाई का अनुभव करेगा, आगमों को चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया। यथाः-

(1) करणचरणानुयोग (2) गणितानुयोग
(3) धर्मकथानुयोग (4) द्रव्यानुयोग[2]

इसके साथ ही आचार्य आर्यरक्षितसूरि ने अनुयोगद्वार सूत्र की भी रचना की जो जैन दर्शन का प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण आगम माना जाता है। यह आगम आचार्यप्रवर की दिव्यतम दार्शनिक दृष्टि का परिचायक है।[3] सिद्धसेन दिवाकार द्वारा रचित सम्मति प्रकरण प्राकृत में है। जैन दृष्टि और मन्तव्यों को तर्कशैली में स्पष्ट तथा स्थापित करने में यह जैन वाङ्मय में सर्वप्रथम ग्रन्थ है जिसका आश्रय उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर विद्वानों ने लिया।[4] सिद्धसेन दिवाकर ने तत्वार्थाधिगमसूत्र की टीका भी बड़ी विद्वता से लिखी है। इस ग्रन्थ के लेखक को दिगम्बर सम्प्रदाय वाले उमास्वामिन और श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले उमास्वाति बतलाते हैं।[5] देवसेन कृत दर्शनसार का विक्रम संवत् 990 में धारा के पार्श्वनाथ मंदिर में रचे जाने का उल्लेख मिलता है।[6] इसके अतिरिक्त आलाप पद्धति इनकी न्यायविषयक रचना है। एक लघुनयचक्र जिसमें 87 गाथाओं द्वारा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो तथा उनके नैगमादि नौ नयों को उनके भेदोपभेद के उदाहरणों सहित समझाया है। दूसरी रचना बृहन्नयचक्र है, जिसमें 423 गाथाएं हैं और उसमें नयों व निक्षेपों का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। रचना के अन्त की 6-7 गाथाओं में लेखक ने एक महत्त्वपूर्ण बात बतलाई है कि आदितः उन्होंने दव्वसहाव-पयास (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) नाम के इस ग्रन्थ की रचना दोहा बंध में की थी, किन्तु उनके एक शुभंकर नाम के मित्र ने उसे सुनकर हंसते हुए कहा कि यह विषय इस छंद से शोभा नहीं देता, इसे गाथाबद्ध कीजिये। अतएव उसे उनके माल्ल धवल नामक शिष्य ने गाथा रूप में परिवर्तित कर डाला। स्याद्वाद और नयवाद का स्वरूप समझने के लिये देवसेन की ये रचनाएं बहुत उपयोगी हैं।[7] अमितगति कृत सुभाषित रत्न संदोह में बत्तीस परिच्छेद है जिनमें से प्रत्येक में साधारणतः एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। इसमें जैन नीतिशास्त्र के विभिन्न दृष्टिकोणों पर आपत्तिः विचार किया गया हैं, साथ-साथ ब्राह्मणों के विचारों और आचार के प्रति इसकी प्रवृत्ति विसंवादात्मक है। प्रचलित रीति के ढंग पर स्त्रियों

पर खूब आक्षेप किये गये हैं। एक पूरा परिच्छेद वेश्याओं के सम्बन्ध में है। जैनधर्म के आप्तों का वर्णन 28वें परिच्छेद में किया गया है और ब्राह्मणधर्म के विषय में कहा गया है कि वे उक्त आप्तजनों की समानता नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्त्रियों के पीछे कामातुर रहते हैं, मद्य सेवन करते हैं और इन्द्रियांरुक्त होते हैं।[8] अमितगति कृत श्रावकाचार लगभग 1500 संस्कृत पद्यों में पूर्ण हुआ है और वह 15 अध्याय में विभाजित है, जिनमें धर्म का स्वरूप, मिथ्यात्व और सम्यकत्व का भेद सप्त तत्व, पूजा व उपवास एवं बारह भावनाओं का सुविस्तृत वर्णन पाया जाता है। अंतिम अध्याय में ध्यान का वर्णन 115 पद्यो में किया गया है जिसमें ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यानफल का निरूपण है। अमितगति ने अपने अनेक ग्रन्थों में उनके रचनाकाल का उल्लेख किया है। जिनमें वि.सं.1050 से 1073 तक के उल्लेख मिलते हैं। अतएव उक्त ग्रन्थों का रचना काल लगभग 1000 ई. सिद्ध होता है।[9] इनके द्वारा रचित योगसार में 9 अध्यायों में नैतिक व आध्यात्मिक उपदेश दिये गये हैं।[10] अमितगति ने संस्कृत श्लोकबद्ध पंचसंग्रह की रचना की, जो उसकी प्रशस्ति के अनुसार वि.सं.1073 में मसूरिकापुर (वर्तमान मसूदविलोदा जो कि धारा के पास है) नामक स्थान में समाप्त हुई। इसमें पांचों अधिकारों के नाम पूर्वोक्त ही हैं तथा दृष्टिवाद और कर्मप्रवाद के उल्लेख ठीक पूर्वोक्त प्रकार से ही आये हैं। यदि हम इसका आधार प्राकृत पंचसंग्रह को न माने तो यहां शतक और सप्तति नामक अधिकारों की कोई सार्थकता ही सिद्ध नहीं होती, क्योंकि इनमें श्लोक संख्या उससे बहुत अधिक है। किन्तु जब संस्कृत रूपान्तरकार ने अधिकारों के नाम दे ही रखे हैं, तब उन्होंने भी मूल और भाष्य पर आधारित श्लोकों को अलग-अलग रखा हो तो आश्चर्य नहीं।[11] अमितगति की अन्य रचनाओं में भावना द्वात्रिंशतिका, आराधना सामयिक पाठ और उपासकाचार का उल्लेख किया जा सकता है।[12] माणिक्यनंदी, जो दर्शनशास्त्र के तलदृष्टा विद्वान् थे और त्रैलोक्य नंदी के शिष्य थे, धारा के निवासी थे। इनकी एक मात्र वृति परीक्षामुख नामक एक न्याय सूत्र ग्रन्थ है जिसमें कुल 277 सूत्र हैं। ये सूत्र सरल, सरस और गम्भीर अर्थ द्योतक है। माणिक्यनंदी ने आचार्य अकलंकदेव के वचन समुद्र का दोहन करके जो न्यायामृत निकाला वह उनकी दार्शनिक प्रतिभा का द्योतक है।[13] इनके शिष्य प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख की टीका लिखी है जो प्रमेयकमल मार्तण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। प्रमेयकमल मार्तण्ड राजा भोज के ही राज्यकाल में रचा गया।[14] प्रभाचन्द्र के अन्य ग्रन्थों में न्याय कुमुदचन्द्र जैन न्याय का एक बड़ा प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।[15] प्रभाचन्द्र कृत आत्मानुशासन तिलक, रत्नकाण्ड टीका, पंचास्तिकाय प्रदीप, प्रवचन सरोज भास्कर, समाधि

तंत्र क्रियाकलाप टीका आदि ग्रन्थों का भी पता चलता है।[16] महापंडित आशाधर अपनी विद्वता के लिये प्रसद्धि है। इनकी प्रतिभा काव्य, न्याय, व्याकरण, शब्दकोश, अलंकार, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, स्तोत्र और वैद्यक आदि सभी विषयों में असाधारण थी। पं.आशाधर कृत सागारधर्मामृत सप्त व्यसनों के अतिचार का वर्णन, श्रावकधर्म की दिनचर्या और साधक की समाधि व्यवस्था पर प्रकाश डालता है।[17] यह ग्रंथ लगभग 500 संस्कृत पद्यो में पूर्ण हुआ है और आठ अध्यायों द्वारा श्रावकधर्म का सामान्य वर्णन, अष्टमूल गुण तथा ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण किया गया है। व्रत प्रतिमा के भीतर बारह व्रतों के अतिरिक्त श्रावकधर्म की दिनचर्या भी बतलाई गई है। अंतिम अध्याय के 110 श्लोकों में समाधिमरण का विस्तार से वर्णन हुआ है। रचनाशैली काव्यात्मक है। ग्रन्थ पर कर्त्ता की स्वोपज्ञ टीका उपलब्ध है, जिससे उसकी समाप्ति का समय वि.सं.1296 या ई. सन् 1239 उल्लिखित है।[18] इनकी दूसरी रचना प्रमेय रत्नाकर स्याद्वाद विद्या की प्रतिष्ठापना करता है।[19] आशाधर कृत ही अध्यात्म-रहस्य हाल ही प्रकाश में आया है। इसमें 72 संस्कृत श्लोकों द्वारा आत्मशुद्धि और आत्मदर्शन एवं अनुभूमि का योग की भूमिका पर प्ररूपण किया गया है। आशाधर ने अपनी अनगार धर्मामृत की टीका की प्रशस्ति में इस ग्रंथ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ की एक प्राचीन प्रति की अंतिम पुष्पिका में इसे धर्मामृत का योगीद्दीपन नामक अठारहवां अध्याय कहा है। इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का दूसरा नाम योगीद्दीपन भी है और इसे कर्त्ता ने अपने धर्मामृत के अंतिम उपसंहारात्मक अठाहरवें अध्याय के रूप में लिखा था। स्वयं कर्त्ता के शब्दों में उन्होंने अपने पिता के आदेश के आरब्ध योगियों के लिये इस प्रसन्न गम्भीर और प्रिय शास्त्र की रचना की थी।[20] इनकी अन्य रचनाओं में धर्मामृत मूल, ज्ञानदीपिका भव्यकुमदचन्द्रिका - यह धर्मामृत पर लिखी टीका है। इसका नाम क्षोदक्षमा था परन्तु विद्वानों के इसकी सरसता सरलता से मुग्ध होकर भव्यकुमुद चन्द्रिका नाम रखा। मूलाराधना शिवार्य की आराधना पर टीका। आराधनासार टीका, नित्य महोद्योत, रत्नत्रय विधान आदि है। धारा के निवासी लाड़बागड़ संघ और बलात्कारगण के आचार्य श्रीचन्द्र ने शिवकोटि की भगवती आराधना पर टिप्पण लिखा है। यह टिप्पण श्रीचन्द्र ने राजा भोज के राजत्वकाल में बनाकर समाप्त किया।[21]

(2) कथात्मक साहित्य : कथात्मक साहित्य के अन्तर्गत हम कथाकोश, पौराणिक ग्रन्थ तथा चरित ग्रन्थों एवं ऐतिहासिक प्रकार के ग्रन्थों को सम्मिलित करते हैं। इस श्रेणी में सर्वप्रथम हम पुन्नाट संघ के आचार्य जिनसेन के इतिहास प्रधान चरित काव्य 'हरिवंश' का उल्लेख करेंगे। इस ग्रंथ की रचना जिनसेनाचार्य

ने शक संवत् 705 में वर्धमानपुर वर्तमान बदनावर जिला धार के पार्श्वालय (पार्श्वनाथ के मंदिर की "अन्नराज वसति" में की और उसका जो शेष भाग रहा उसे वहीं के शांतिनाथ मंदिर में बैठकर पूरा किया।[22] दिगम्बरी सम्प्रदाय के कथा संग्रहों में इसका तीसरा स्थान है।[23] हरिषेण कृत कथाकोश की रचना श्री विनायकपाल राजा के राज्यकाल में बदनावर में की गई। विनायकपाल प्रतिहारवंश का राजा था जिसकी राजधानी कन्नौज थी। कथाकोश की रचना वि.सं.989 में हुई। यह कथाकोश साढ़े बारह हजार श्लोक परिमाण का वृहद् ग्रन्थ है।[24] यह संस्कृत पद्यों में रचा गया है और उपलब्ध समस्त कथाकोशों में प्राचीनतम सिद्ध होता है। इसमें 157 कथाएं हैं। जिनमें चाणक्य, शकटाल, भद्रबाहु, वररूचि, स्वामी कार्तिकेय आदि ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र भी है। इस कथाकोश के अनुसार भद्रबाहु उज्जयिनी के समीप भाद्रपद में ही रहे थे और उनके दीक्षित शिष्य राजा चन्द्रगुप्त, अपरनाम विशाखाचार्य, संघ सहित दक्षिण के पुन्नाट देश को गये थे। कथाओं में कुछ नाम व शब्द जैसे मैदज्ज (मौतार्य) विज्जदाइ (विद्युद्दंष्ट) प्राकृत रूप में प्रयुक्त हुए हैं जिससे अनुमान होता है कि रचयिता कथाओं को किसी प्राकृत कृति के आधार पर लिख रहा है। उन्होंने स्वयं अपने कथाकोश को आराधनोद्धृत कहा है, जिससे अनुमानतः भगवती आराधना का अनुमान हो।[25] आचार्य महासेन ने प्रद्युम्न चरित की रचना 11वीं शताब्दी के मध्य के भाग में की।[26] अमितगति कृत धर्मपरीक्षा की शैली का मूल स्रोत यद्यपि हरिभद्र कृत प्राकृत धूर्त्ताख्यान है तथापि यहां अनेक छोटे-बड़े कथानक सर्वथा स्वतंत्र व मौलिक हैं। ग्रन्थ का मूल उद्देश्य अन्य धर्मों की पौराणिक कथाओं की असत्यता को उनसे अधिक कृत्रिम, असम्भव व उटपटांग आख्यान कह कर, सिद्ध करके सच्चा धार्मिक, श्रद्धान उत्पन्न करता है। इनमें धूर्तता और मूर्खता की कथाओं का बाहुल्य है। प्राकृत कोषों में सर्वप्राचीन रचना धनपाल कृत पाइय लच्छी नाम माला है जो उसकी प्रशस्ति के अनुसार कर्त्ता ने अपनी भगिनी सुन्दरी के लिये धारा नगरी में वि.सं.1029 में लिखी थी, जबकि मालव नरेन्द्र द्वारा मान्यखेट लूटा गया था। यह घटना अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से भी सिद्ध होती है। धारा नरेश हर्षदेव ने एक शिलालेख में उल्लेख किया है कि उसने राष्ट्रकूट राजा खौट्टिगदेव की लक्ष्मी का अपहरण किया था। इस कोश में अमरकोश की रीति से प्राकृत पद्यों से लगभग 1000 प्राकृत शब्दों के पर्यायवाची शब्द कोई 250 गाथाओं में दिये हैं।[27] प्रारम्भ में कमलासनादि 18 नाम पर्याय एक एक गाथा में, फिर लोकाग्र आदि 167 तक नाम आधी आधी गाथा में, तत्पश्चात् 597 तक एक एक चरण में और शेष छिन्न अर्थात् एक गाथा में कहीं चार, कहीं पांच और कहीं

छह नाम दिये गये हैं। ग्रन्थ के ये ही चार परिच्छेद कहे जा सकते हैं। अधिकांश नाम और उनके पर्याय तद्भव हैं। सच्चे देशी शब्द अधिक से अधिक पंचमांश होंगे।[28] संस्कृत गद्यात्मक आख्यानों में धनपाल कृत तिलकमंजरी (ई.970) की भाषा शैली बड़ी औजस्विनी है।[29] मुनि श्रीचन्द्र ने महाकवि पुष्पदंत के उत्तरपुराण का टिप्पण लिखा है जिसे उन्होंने सागरसेन नाम से सैद्धान्तिक विद्वान् से महापुराण के विषय में पदों का विवरण जानकर और मूल टिप्पण का अवलोकन कर वि.सं.1080 में राजा भोज के राज्यकाल में लिखा।[30] इसके अतिरिक्त इन्होंने रविषेण कृत पद्मचरित पर टिप्पण वि.सं.1087 में एवं पुराणसार वि.सं.1080 में लिखा।[31] प्रभाचन्द्र ने आराधना गद्य कथाकोश की रचना की।[32] इसमें चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त समन्तभद्र और अकलंक के चरित्र भी वर्णित है।[33] अपभ्रंश भाषा के एक कवि 'वीर' की वरांगचरित, शांतिनाथ चरित, सुद्धयवीर, अम्बादेवी राय और जम्बूसामिचरित् का पता चलता है। किन्तु इनकी प्रथम चार रचनाओं में से आज एक भी उपलब्ध नहीं है। पांचवी कृति जम्बूस्वामी चरित्र ग्रन्थ की अंतिम प्रशस्ति के अनुसार वि.सं.1076 में माह माघ की शुक्ल दसवीं को लिखी गई। कवि ने 11 संधियों में जम्बूस्वामी का चरित्र चित्रण किया है। वीर के जम्बूसामि चरिउ में 11वीं सदी के मालवा का लोक जीवन सुरक्षित है। वीर के साहित्य का महत्त्व 'मालवा' की भौगोलिक, आर्थिक, राजनैतिक और लोक सांस्कृतिक दृष्टि से तो है ही, परन्तु सर्वाधिक महत्त्व मालवी भाषा की दृष्टि से है। मालवी शब्दावली का विकास 'वीर' की भाषा में खोजा जा सकता है। नयनंदी कृत सकल विधि-विधान कहा वि.सं.1100 में लिखा गया है।[34] यद्यपि यह खण्ड काव्य के रूप में है किन्तु विशाल काव्य में रखा जा सकता है। इसकी प्रशस्ति में इतिहास की महत्त्वपूर्ण साम्रगी प्रस्तुत की गई है। उसमें कवि ने ग्रन्थ बनाने के प्रेरक हरिसिंह मुनि का उल्लेख करते हुए अपने से पूर्ववर्ती जैन-जैनेतर और कुछ समसामयिक विद्वानों का भी उल्लेख किया है।[35] कवि दामोदर ने राजा देवपाल के राज्य में नागदवे के अनुरोध पर नैमिजिन का चरित्र बनाया था।[36] पं.आशाधर ने अमरकोश की टीका भी लिखी है।[37] और परमार राजा देवपाल के राज्यकाल में पं.आशाधर ने सं.1292 में त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र की रचना की[38] जिसमें 62 शलाका पुरुषों का चरित्र अपेक्षाकृत संक्षेप से वणर्न किया गया है, जिसमें प्रधानतः जिनसेन गुणभद्र कृत महापुराण का अनुसरण पाया जाता है।[39]

(3) काव्य और महाकाव्य : मालवा के जैन विद्वानों में अनेक बड़े कवि हो चुके हैं कुछ काव्य ग्रन्थों का जो चरित एवं ऐतिहासिक श्रेणी में आते हैं, उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। कुछ ग्रन्थ जिसका उल्लेख महाकाव्यों या लघु काव्यों की

श्रेणी में आता है, वह इस प्रकार हैं नयनंदी कृत सुदर्शन चरित अपभ्रंश का खण्ड काव्य है जिसकरी रचना वि.सं.1100 में हुई।[40] यह ग्रन्थ महाकाव्यों की श्रेणी में रखने योग्य है। पं.आशाधर कृत अनेक काव्य ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इनकी रचना भारतेश्वराभ्युदय में भरत के ऐश्वर्य का वर्णन है। इसे सिद्धचक्र भी कहते हैं क्योंकि इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में सिद्ध पद आया है।[41] राजामती विप्रलम्भ खण्ड काव्य है जिस पर लेखक की स्वयं की स्वोपज्ञ टीका भी है। "इष्टोपदेश टीका" और जिन यज्ञकल्प जिसका कि दूसरा नाम प्रतिष्ठासारोद्धार धर्मामृत का एक अंग है पं.आशाधर की ही रचनाएं हैं।[42] इसके अतिरिक्त और कोई काव्य ग्रन्थों की जानकारी हमें नहीं मिलती। जो महाकाव्य मिले हैं वे हमारी समयसीमा के पर्याप्त बाद के हैं जिनका उल्लेख करना उचित नहीं प्रतीत होता।

(4) स्तोत्र साहित्य : स्तोत्रों में सबसे प्राचीन स्तोत्र सिद्धसेन दिवाकर के हैं। सिद्धसेन दिवाकर के दो स्तोत्र (1) कल्याण मंदिर स्तोत्र तथा (2) वर्धमान द्वात्रिंशिका स्तोत्र उपलब्ध है। इनका कल्याण मंदिर स्तोत्र 44 श्लोकों में है। यह पार्श्वनाथ भगवान का स्तोत्र है। इसकी कविता में प्रासाद गुण कम है और कृत्रिमता एवं श्लेष की भरमार है। परन्तु प्रतिभा की कमी नहीं है। किंवदन्ति है कि कल्याण मंदिर स्तोत्र का पाठ समाप्त होते ही उज्जयिनी के महाकाल मंदिर में शिवलिंग फट गया और उसके मध्य में पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल आई।[43] इसके अंतिम भिन्न छंद के एक पद्य में इसके कर्त्ता का नाम कुमुदचन्द्र सूचित किया गया है, जिसे कुछ लोग सिद्धसेन का ही दूसरा नाम मानते हैं। दूसरे पद्य के अनुसार यह 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तूति में रचा गया है। भक्तामर के सदृश होते हुए भी यह अपनी काव्य कल्पनाओं व शब्द योजना में मौलिक ही है। हे, जिनेन्द्र, आप उन भक्तों को संसार से कैसे पार कर देते हैं, जो अपने हृदय में आपका नाम धारण करते हैं? हां जाना, जो एक मशक भी जल में तैर कर निकल जाती है, वह उसके भीतर भरे हुए पवन का ही तो प्रभाव है। हे जिनेश, आपके ध्यान से भव्य पुरुष क्षणमात्र में देह को छोड़कर परमात्म दशा को प्राप्त हो जाते हैं, क्यों न हो, तीव्र अग्नि के प्रभाव से नाना धातुएं अपने पाषाण भाव को छोड़कर शुद्ध सुवर्णत्व को प्राप्त कर लेती हैं।[44] सिद्धसेन दिवाकर कृत वर्द्धमान द्वात्रिंशिका दूसरा स्तोत्र है। यह 32 श्लोकों में भगवान वर्धमान महावीर की स्तुति है। इसमें कृत्रिमता एवं श्लेष नहीं है। प्रसादगुण अधिक है। भगवान महावीर को शिव, बुद्ध, ऋषिकेश, विष्णु एवं जगन्नाथ मानकर प्रार्थना की गई है।[45] इन दोनों स्तोत्रों में सिद्धसेन दिवाकर की काव्यकला ऊंची श्रेणी की है।

मानतुंगाचार्य कृत भक्तामर स्तोत्र के प्रारम्भ करने की शैली पुष्पदन्त के शिवमहिम्न स्तोत्र से प्रायः मिलती है। प्रातिहार्य एवं वैभव वर्णन में भक्तामर पर पात्र केसरी स्तोत्र का भी प्रभाव परिलक्षित होता है।[46] इनका भक्तामर स्तोत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से समादृत है। कवि की यह रचना इनती लोकप्रिय रही है, जिससे उसके प्रत्येक अंतिम चरण को लेकर समस्या पूर्त्यात्मक स्तोत्र काव्य लिखे जाते रहे हैं। इस स्तोत्र की कई समस्या-पूर्तियां उपलब्ध हैं।[47] भक्तामर बहुत ही लोकप्रिय और सुप्रचलित एवं प्रायः प्रत्येक जैन के जिह्वाग्र पर है। दिगम्बर परम्परानुसार इसमें 48 तथा श्वेताम्बर परम्परा में 54 पद्य हैं। स्तोत्र की रचना सिंहोन्नता छन्द में हुई है। इसमें स्वयं कर्त्ता के अनुसार प्रथम जिनेन्द्र अर्थात् ऋषभनाथ की स्तुति की गई है। तथापि समस्त रचना ऐसी है कि वह किसी भी तीर्थंकर के लिये सार्थक हो सकती है। प्रत्येक पद्य में बड़े सुन्दर उपमा, रूपक आदि अलंकारों का समावेश है। हे भगवन्, आप अद्‌भुत जगत् प्रकाशी दीपक हैं, जिसमें न तेल है, न बाती और न धूप, जहां पर्वतों को हिला देने वाले वायु के झोंके पहुंच नहीं सकते तथापि जिसमें जगत् भर में प्रकाश फैलता है। हे मुनीन्द्र, आपकी महिमा सूर्य से भी बढ़कर है क्योंकि आप न कभी अस्त होते, न राहुगम्य है न आपका महान् प्रभाव मेघों के विरुद्ध होता है। आप एक साथ समस्त लोकों का स्वरूप सुस्पष्ट करते हैं। भगवन् आप ही बुद्ध हैं, क्योंकि आपके बुद्धि व बोध की विबुध जन अचर्ना करते हैं। आप ही शंकर हैं, क्योंकि आप भुवनत्रय का शम् अर्थात् कल्याण करते हैं और आप ही विधाता ब्रह्मा हैं, क्योंकि आपने शिव मार्ग (मोक्ष मार्ग) की विधि का विधान किया है, इत्यादि।[48] इसका सम्पादन जर्मन भाषा में अनुवाद डॉ.याकोबी ने किया है। इस स्तोत्र के आधार से बड़े विशाल साहित्य का निर्माण हुआ है। इस पर कोई 20-25 तो टीकाएं लिखी गई हैं एवं भक्तामर स्तोत्र कथा व चरित्र, छाया स्तवन, पंचांग विधि, पादपूर्ति स्तवन, पूजा, मंत्र, माहात्म्य, व्रतोद्यापन आदि भी 20-25 से कम नहीं है। प्राकृत में भी मानतुंग कृत भयहर स्तोत्र पार्श्वनाथ की स्तुति में रचा गया है।[49] प्रभाचन्द्र ने वृहत् स्वयंभू स्तोत्र टीका लिखी है।[50] पं.आशाधर कृत सिद्धगुण स्तोत्र स्वोपज्ञ टीका सहित[51] तथा भूपाल चतुर्विंशति टीका भी इनके ही द्वारा लिखी बताई जाती है।[52]

(5) अलंकार और व्याकरण सहित : मालवा के जैन विद्वानों ने अलंकार एवं व्याकरण जैसे विषयों पर भी साहित्य सृजन किया है। प्रभाचन्द्र कृत शब्दाम्भोज भास्कर[53] एक व्याकरण ग्रन्थ है। पं.आशाधर ने क्रियाकलाप के नाम से व्याकरण ग्रन्थ की रचना की तथा अलंकार से सम्बन्धित काव्यालंकार टीका लिखी।[54]

(6) अन्य साहित्य : आचार्य अमितगति की कुछ रचनाएं उपलब्ध नहीं है जिनके नाम निम्नलिखित हैं:-

(1) जम्बू द्वीप :- सम्भवतः भूगोल विषयक ग्रन्थ हो।

(2) चन्द्रप्रज्ञप्ति

(3) सार्थद्वय द्वीप प्रज्ञप्ति तथा

(4) व्याख्या प्रज्ञप्ति है।[55]

पं.आशाधर ने आयुर्वेद से सम्बन्धित ग्रन्थों की भी रचना की थी। उन्होंने वाग्भट के आयुर्वेद ग्रन्थ अष्टंगहृदयी की टीका अष्टंगहृदयी द्योतिनी के नाम से लिखी।[56]

इस प्रकार मालवा के जैन विद्वानों के विविध विषयक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं तथा अभी भी नये-नये जैन विद्वानों के ग्रन्थ प्रकाश में आते जा रहे हैं। यदि समूचे भारतवर्ष के जैन शास्त्र भण्डारों तथा व्यक्तिगत संग्रहालयों में खोज की जाये तो और अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाश में आने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विवरण से एक बात स्पष्ट रूप से विदित हो जाती है कि जितना भी साहित्य जैनधर्म में उपलब्ध है उस समस्त साहित्य का सृजन जैनाचार्यों के द्वारा हुआ है क्योंकि वणिक् जाति व्यापार प्रधान जाति है। इस कारण इस जाति के व्यक्तियों का तो साहित्य सृजन की ओर ध्यान नहीं के बराबर जाता है और यही कारण है कि जैनाचार्यों के द्वारा रचा गया साहित्य हमारे सामने है। उसकी भी विशेषता यह है कि साहित्य भी साम्प्रदायिक ग्रन्थ तक ही सीमित नहीं रह गया है वरन् साहित्य के विभिन्न अंगों पर इन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों की रचना की है।

संदर्भ सूची

1 उज्जयिनी दर्शन, पृष्ठ 93

2 श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ 459

3 वही, पृ.459

4 स्व.बाबू श्री बहादुरसिंहजी सिंघी स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 12

5 संस्कृति केन्द्र उज्जयिनी, पृष्ठ 116

6 गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 544

7 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ.87

8 संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग-2 कीथ, पृ.286-87

9 वही, पृ.121

10 वही, पृ.81

11 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ.81

12 संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ.345, गैरोला

13 गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रंथ, पृ.546

14 वही, पृ.548
15 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ.89
16 संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 355, गैरोला
17 वही, पृष्ठ 346
18 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 114
19 वीरवाणी, वर्ष 18, अंक 13, पृष्ठ 21
20 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 122
21 वीरवाणी, पृष्ठ 22
22 गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 546
23 जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ 177-78, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 332
24 संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 351
25 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 177
26 गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 545-46
27 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 177
28 वही, पृ.195-96
29 वही, पृष्ठ 174
30 गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 546
31 संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 355
32 गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 545
33 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 178
34 वही, पृष्ठ 64
35 गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 547-48
36 वही, पृष्ठ 551
37 वीरवाणी, वर्ष 18, अंक 13, पृष्ठ 22
38 जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ 396
39 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 68
40 वही, पृ.163
41 वीरवाणी, वर्ष 18, अंक 13, पृष्ठ 21-22
42 वही, पृष्ठ 21-22
43 संस्कृति केन्द्र उज्जयिनी, पृष्ठ 118
44 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 125-26
45 संस्कृति केन्द्र उज्जयिनी
46 अनेक्रांत, वर्ष 18, किरण 6, पृष्ठ 245
47 वही, पृष्ठ 242
48 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 125
49 वही, पृष्ठ 125
50 गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 548
51 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 120
52 गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 551
53 भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ 185
54 वीरवाणी, वर्ष 18, अंक 13, पृष्ठ 22
55 संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 345
56 वीरवाणी, पृष्ठ 22

अध्याय - 8

जैन शास्त्र भण्डार

जैसा कि सर्व विदित है, जैन धर्मावलम्बियों ने भी ब्राह्मणधर्म के समान ही अपनी स्मृति के आधार पर ही पीढ़ी दर पीढ़ी अपने ज्ञान को सुरक्षित रखा। जैसे-जैसे साहित्य बढ़ता गया वैसे-वैसे उस साहित्य को मौखिक रूप से याद रखना भी कठिन होता गया। तब सूत्र शैली के माध्यम से साहित्य स्मृति में रखा जाने लगा। जैसा कि स्वाभाविक था, यह सूत्र शैली पर्याप्त लोकप्रिय हुई। किन्तु समय व्यतीत होता गया और ज्ञान का क्षेत्र बढ़ता गया तो साहित्य भी बढ़ता गया, साहित्य की शाखायें भी बढ़ती गई, तब यह सूत्र शैली भी साहित्य को स्थायी रखने में सहायक नहीं हो सकी। दूसरे इसमें अन्य अनेक कठिनाइयां भी आने लगी। जैसे धर्म के मूल सिद्धान्तों की अनिश्चितता, जो व्यक्ति परम्परा रूप से साहित्य को अपनी स्मृति में रखे रहते थे, उनकी मृत्यु। इस प्रकार यह प्रथा बाद में चलकर कठिन एवं असम्भव प्रतीत होने लगी और तब कहीं ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के साहित्य को लिपिबद्ध करने का श्रीगणेश हुआ।

शास्त्र भण्डारों की स्थापना : शास्त्रों के लेखन का कार्य मूल रूप से आचार्यों के द्वारा ही हुआ है। किन्तु अनेक उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जहां अनेक ग्रन्थ कई विद्वानों के संयुक्त प्रयास से भी लिखे गये हैं। किन्तु ग्रन्थ को लिखना और उसको सुरक्षित रखना, ये दोनों भिन्न बाते हैं। इसलिये ग्रन्थों को सुरक्षित रूप में रखने के लिये व्यवस्था होना नितांत आवश्यक था। इसके लिये ग्रन्थ भण्डारों की स्थापना होना भी आवश्यक था। मालवा में सर्वप्रथम ग्रन्थ भण्डार कब और कहां स्थापित करवाया गया इसकी जानकारी नहीं मिलती। किन्तु इतना कहा जा सकता है कि शास्त्र भण्डारों की स्थापना में सबसे बड़ा योगदान जैनाचार्यों का रहा। इसके अतिरिक्त जो जैन धर्मावलम्बी किसी प्रभावशाली पद पर रहा उसने भी शास्त्र भण्डार की स्थापना में यथासम्भव योगदान दिया। किन्तु इस प्रकार के व्यक्तियों की कोई सूची उपलब्ध नहीं।

मालवा के सुलतान होशंग गौरी के प्रधानमंत्री मंडन ने मांडवगढ़ में एक ज्ञान भण्डार की स्थापना की थी उसमें रखने के लिये एक भगवती सूत्र की प्रति

संवत् 1503 के साल में लिखवाई, वह गुजरात के पाटण शहर में सागरगच्छीय उपाश्रय के भण्डार में आज भी विद्यमान है। उसकी प्रशस्ति में मण्डन का सम्पूर्ण चरित्र लिखा है।[1]

जैन मंदिर ज्ञानपीठ के रूप में : प्राचीनकाल में अनेक राजा महाराजा कुछ अपने संस्कारों से तथा कुछ धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर मंदिरों में धार्मिक साहित्य उपलब्ध करवाते थे। साथ ही वे धार्मिक साहित्य के लेखन को प्रोत्साहन भी देते रहते थे। इस प्रकार मंदिरों में धार्मिक ग्रन्थों का एक अच्छा संग्रह हो जाया करता था जो धार्मिक एवं विश्वस्त स्थान पर होने के परिणामस्वरूप सुरक्षित भी रहता था। जैन मंदिरों में भी हमें अधिकांश रूप से ग्रन्थ भण्डार मिलते हैं। मंदिरों में केवल अपने धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थ ही नहीं रखे जाते थे, वरन् अन्य धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थ भी अध्ययन एवं संदर्भ आदि के लिये रखे जाते थे और इस प्रकार एक अच्छा पुस्तकालय स्थापित हो जाता था।

मंदिर में शास्त्र भण्डार किसी एक राजा अथवा एक आचार्य या एक व्यक्ति की देन नहीं है। यह तो ज्ञान का वह सागर है जो अनेक स्थानों की पुस्तक रूपी जल की बूंदों से भरा है। समाज के अनेक व्यक्तियों के सहयोग का प्रतिफल ही इसमें दिखाई देता है।

मंदिरों में अध्ययन, एवं प्रवचन आदि होते रहते हैं। ज्ञान पिपासु व्यक्ति अपनी प्यास बुझाने आते-जाते रहते हैं। चूंकि मंदिर ही एक ऐसा स्थान होता है जहां पर इस प्रकार के ग्रन्थ सुरक्षित एवं व्यवस्थित रह सकते हैं और यही कारण है कि आज हमें अधिकांश जैन मंदिरों में शास्त्र-भण्डार मिलते हैं।

शास्त्र भण्डार वहां भी रहे होंगे जहां जैन भट्टारकों की गादी रही अथवा प्राचीनकाल में जैन विद्या के जो स्थान केन्द्र रहे हो। किन्तु आज ऐसे स्थानों पर कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। कहीं-कहीं मंदिरों में बड़े-बड़े शास्त्र भण्डार भी मिलते हैं जिनमें बहुमूल्य ग्रन्थ संग्रहित हैं। किन्तु अधिकांश मंदिरों में छोटे-छोटे शास्त्र भण्डार ही मिलते हैं जिनमें धार्मिक विषय जैसे सिद्धान्त, पूजा, प्रतिष्ठा तथा विधान आदि से सम्बन्धित ग्रन्थ ही मिलते हैं। बड़े भण्डारों में उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, काव्य, चरित्र आदि विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।

राजनीतिक, व्यवसायिक अथवा प्राकृतिक कारणों से कभी भी जब मनुष्य परिवर्तन करता है तो उसके साथ वह अपनी ग्रन्थ सम्पत्ति यथासम्भव ले जाता है। इस प्रकार के आवागमन के परिणामस्वरूप अनेक ग्रन्थ असावधानीवश या तो नष्ट हो जाते हैं या मनुष्यों के द्वारा व्यर्थ का बोझ समझकर वहीं किसी

को दे दिये जाते हैं। कुछ व्यक्ति ग्रन्थों के महत्त्व को समझकर अपने साथ सुरक्षित रखकर ले जाते हैं और ग्रन्थ भण्डारों को भेंट कर देते हैं जिससे कि वे सुरक्षित रह सके। यही कारण है कि अनेक दूरस्थ स्थानों पर लिखे हुए ग्रन्थ भी भण्डारों में मिलते हैं किन्तु उनके प्राप्त होने का कोई विवरण नहीं मिलता।

जहां ग्रन्थ भण्डारों में ग्रन्थों को सम्हाल कर रखने का प्रश्न है, मुझे जो भी ग्रन्थ भण्डार देखने को मिलते हैं, उनमें ग्रन्थों को सुरक्षित रखने के लिये निम्नानुसार व्यवस्था देखने को मिलीः-

(1) ग्रन्थों की प्रतिलिपि करना : कुछ स्थानों पर ऐसा भी उदाहरण मिला कि यदि कोई ग्रन्थ अत्यधिक जीर्ण-शीर्ण हो रहा है और उसको सम्हालकर सुरक्षित रख पाना सम्भव नहीं हो पा रहा है तो मंदिरों के शास्त्र भण्डारों में ऐसे शास्त्रों की प्रतिलिपि करवा ली गयी है। मन्दसौर के पार्श्वनाथ दिगम्बर, जूना मंदिर, जनकूपुरा के सरस्वती शास्त्र भण्डार में एक पंडितजी थे जो ग्रन्थों की प्रतिलिपि का कार्य करते थे, वे अब नहीं है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर के शास्त्र भण्डारों अथवा रुचि रखने वाले व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार ग्रन्थों की प्रतिलिपि बनाने का कार्य करते थे।

(2) ग्रन्थों को रखने का स्थान व ढंग : सामान्यतः ग्रन्थों को लकड़ी अथवा लोहे की अलमारियों में सुरक्षित रखा जाता है। कहीं-कहीं लकड़ी अथवा लोहे की पेटी में भी ग्रन्थ रखे जाते हैं। ग्रन्थों को दो पुट्ठों के टुकड़े अथवा पटियों के मध्य कागज में लपेटकर डोरी से बांध दिया जाता है, उसके उपरांत एक कपड़े में लपेटकर बांध दिया जाता है। जब ग्रन्थों को अलमारी में रखना होता है तब या तो अलग-अलग ग्रन्थ जमा कर रख दिये जाते हैं अथवा एक बड़े कपड़े में 10-20 ग्रन्थों को बांधकर गट्ठर के रूप में रख देते हैं। इस प्रकार केवल हस्तलिखित ग्रंथ ही रखे जाते हैं। प्रकाशित ग्रन्थ तो एक के बाद एक जमा दिये जाते हैं।

हस्तलिखित ग्रन्थों को तथा प्रकाशित ग्रन्थों को प्राकृतिक कारणों से होने वाली हानियों से बचाने के लिये वर्ष में एक दो बार धूप में रखा जाता है। धूप में विशेषकर वर्षा के उपरांत रखा जाता है जिससे कि वर्षा के कारण उत्पन्न नमी तथा दीमक आदि कीटाणु यदि हो तो धूप पाकर नष्ट हो जावे। इस सम्बन्ध में एक दो स्थानों पर मैंने कीटनाशक पाउडर डालने का प्रस्ताव किया तो वह इसलिये स्वीकार नहीं किया गया कि उससे जीव हत्या होती है। जैनधर्म के पंच महाव्रतों में एक व्रत अहिंसा भी है। इसी कारण जीव हत्या के भय से कीटनाशक दवाइयों का उपयोग नहीं किया जाता।

मालवा के शास्त्र भण्डार : जैसा ऊपर कहा गया है कि जैन मंदिरों में

जैनाचार्यों के प्रयासों से शास्त्र भण्डार निर्मित हुए। कुछ शास्त्र भण्डार कुछ धर्म पिपासु भक्तों ने तथा कुछ शास्त्र भण्डार जैनधर्म के कुछ प्रभावशाली श्रावकों ने स्थापित करवाये। इस प्रकार के कुछ उदाहरण हमें मिलते हैं फिर भी मालवा के जैनशास्त्र भण्डारों के विस्तृत अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि मालवा में जहां-जहां भी शास्त्र भण्डार है, उनकी समग्र जानकारी विद्वानों को नहीं है। कारण यह है कि शास्त्र भण्डारों के कार्य व्यवस्थित नहीं है। कहीं-कहीं तो स्थिति यह है कि शास्त्र भण्डार में कितने ग्रन्थ हैं? हस्तलिखित ग्रन्थ कितने हैं? उनके ग्रन्थकार कौन-कौन हैं? उनके भेंटकर्त्ता कौन है? तथा प्रकाशित ग्रन्थ कितने हैं और कौन-कौन से हैं? आदि जानकारी भी पूरी तरह नहीं मिल पाती है। ऐसी स्थिति में सबसे प्रथम तो यह आवश्यक हो जाता है कि मालवा में उपलब्ध समस्त जैन शास्त्र भण्डारों का सर्वेक्षण किया जाय उनकी विवरणात्मक सूचियां बनाई जाय। उनको ग्रन्थ-पंजिकाओं में अंकित किया जाय। उसके उपरांत "मालवा के जैन शास्त्र भण्डारों के ग्रन्थों का सूचीपत्र" तैयार किया जावे। तभी मालवा के शास्त्र भण्डारों की सही सही स्थिति हमारे सामने आ सकती है। इसके अतिरिक्त एक बात और यह है कि यह कार्य जैन समाज के माध्यम से ही होना चाहये। क्योंकि जैनेत्तर धर्म के व्यक्ति के लिये जैन शास्त्र भण्डरों की सूची तथा ग्रन्थों की सूची पत्र बनाना असम्भव प्रतीत होता है। क्योंकि मुझे भी इस विषय में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त मैं इन्दौर, मन्दसौर, रतलाम आदि स्थानों के शास्त्र भण्डरों को प्रयत्न करने के उपरांत भी नहीं देख पाया हूं और उसका एक मात्र कारण मेरा जैनेतर धर्मावलम्बी होना है। ऐसी स्थिति में मुझे मालवा के जैन शास्त्र भण्डारों के विषय में जो भी थोड़ी बहुत जानकारी मिल पाई है उसका विवरण मैं यहा प्रस्तुत कर रहा हूं- यथाः-

(1) बड़नगर का जैनशास्त्र भण्डार : उज्जैन जिले के नगर बड़नगर में तीन स्थानों पर शास्त्र भण्डार है जिनका विवरण इस प्रकार हैः-

(अ) श्री दिगम्बर तेरापंथ आम्नाय मंदिर बड़नगर- इस मंदिर में एक शास्त्र भण्डार है। इसमें प्रकाशित तथा हस्तलिखित दोनों ही प्रकार के ग्रन्थ हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या 257 है। ऐसा विदित हुआ कि यहां एक ग्रन्थ ताड़पत्र पर लिखा हुआ भी है। किन्तु ग्रन्थ भण्डार की चाबी उपलब्ध नहीं होने के कारण मैं ग्रन्थ भण्डार को नहीं देख सका।

(ब) श्री दिगम्बर जैन मंदिर घाटासेरी बड़नगर- इस मंदिर में जो शास्त्र भण्डार है, उसमें संग्रहित हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या 390 है। ग्रन्थ भण्डार के

व्यवस्थापक श्री मिश्रीलाल टोंग्या है जिन्होंने पूर्ण रूचि के साथ ग्रन्थों का अवलोकन करवाया। साथ ही आप ग्रन्थों को सुरक्षित रखने का प्रयास भी करते हैं। कुछ ग्रन्थों की प्रशस्तियां महत्त्व की है। कुछ ग्रन्थ 17वीं शताब्दी के लिखे हुए हैं। एक ग्रन्थ "ज्ञानार्णव" सं.1679 भाद्र शुक्ल 14 रविवार को नागपुर में लिखा गया था। यह ग्रन्थ नागपुर से बड़नगर किस प्रकार आया इसकी कोई जानकारी इस शास्त्र भण्डार में उपलब्ध नहीं है न ही यह जानकारी है कि यह ग्रन्थ किस प्रकार भण्डार को उपलब्ध हुआ?

(स) अजितनाथ का श्वेताम्बर जैन मंदिर बड़नगर- यहां भी एक शास्त्र भण्डार होने की सूचना है किन्तु यहां के व्यवस्थापक महादेय के पास चार पांच बार जाकर विनम्र निवेदन करने के उपरांत भी वे अपने घर से चाबी लेकर मंदिर तक नहीं आये जबकि घर से मंदिर 1 फलांग से भी कम दूरी पर स्थित है। अतः पर्याप्त प्रयत्न करने के उपरांत भी मैं यह शास्त्र भण्डार देखने से वंचित रहा।

(2) मन्दसौर का शास्त्र भण्डार : मन्दसौर के जैन मंदिरों में से मुझे जो जानकारी दी गई उसके अनुसार केवल श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर जनकूपुरा मन्दसौर में श्री सरस्वती शास्त्र भण्डार जूना मंदिर है इस शास्त्र भण्डार में लगभग 70 हस्तलिखित ग्रन्थ हैं जो व्यवस्थित रूप से रखे हुए हैं तथा इन ग्रन्थों का एक व्यवस्थित रजिस्टर भी है। इस कारण शास्त्र भण्डार के कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस प्रकार हैं:-

(1) महिपाल चरित : यह ग्रन्थ पूर्ण है। प्रशस्ति के संवत् आदि का उल्लेख नहीं है। ग्रन्थ अच्छी स्थिति में है।

(2) दशलक्षण व्रत विधान : संवत् 1804 माघ सुदी 3 का लिखा हुआ है। अन्य कोई महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रशस्ति में नहीं दी गई है।

(3) देवपूजा : यह ग्रन्थ सं.1926 में चन्देरी में गंगाप्रसाद ब्राह्मण ने लिपिबद्ध किया था। चन्देरी से मन्दसौर यह ग्रन्थ किस प्रकार आया और फिर इस शास्त्र भण्डार को किसने भेंट किया आदि जानकारी उपलब्ध नहीं है।

(4) पद्मपुराण वचनिका : यह ग्रन्थ चतुःसंघ (श्रावक, श्राविका मुनि, आर्यका) आदि के मंगल के लिये संवत् 1899 में मिति माह ज्येष्ठ शुक्ल 11 शनिवार को लिपिबद्ध किया गया। इसके लिपिकर्त्ता खरतरगच्छ के भट्टारक श्री खूबचन्दजी थे जो ग्राम मन्दसौर में बड़ी होली में निवास करते थे। जनकूपुरा मंदिर के लिये जिन्होंने इस ग्रन्थ की लिपि की। इस ग्रन्थ भण्डार में एक ग्रन्थ जयपुर का लिखा हुआ भी है।

मैं यहां के शास्त्र भण्डार का अवलोकन कर ही रहा था कि एक कोई

बुजुर्ग महानुभाव मंदिर में आये, जो शायद मंदिर की व्यवस्था समिति के सदस्य थे और क्रोधित होकर कहने लगे कि किसकी आज्ञा से भण्डार खोला है? जो व्यवस्थापक मेरे साथ थे, उन्होंने पूर्ण स्थिति बड़े ही विनम्र शब्दों में समझाई मगर उन्होंने एक न सुनी। तब मैंने शास्त्र भण्डार को देखने का अपना उद्देश्य उनको बताया और नम्रतापूर्वक उनसे निवेदन किया कि मुझे शास्त्र भण्डार देखने की अनुमति दे दी जावे किन्तु वे नहीं माने और जब तक उन्होंने शांति अनुभव नहीं की जब तक कि शास्त्र भण्डार को ताला नहीं लग गया। इस प्रकार मैं मन्दसौर के इस शास्त्र भण्डार का भी लाभ नहीं उठा सका।

नयापुरा तेरापंथी मन्दसौर में भी एक शास्त्र भण्डार होने की सूचना है किन्तु उसका अवलोकन भी मैं नहीं कर पाया।

(3) इन्दौर का शास्त्र भण्डार : श्री महावीर भवन पीपली बाजार में एक शास्त्र भण्डार है जिसके कार्यवाहक एक वकील साहब हैं। इस शास्त्र भण्डार के लिये एक ट्रस्ट है। मुझे ऐसा विदित हुआ कि यहां सचित्र हस्तलिखित ग्रन्थ भी हैं। इस सूचना के आधार पर मैं इन्दौर गया और वकील साहब से सम्पर्क स्थापित किया।यद्यपि मुझे वकील साहब का अच्छा सहयोग प्राप्त हुआ तथापि भण्डार के नियमों के कारण मैं शास्त्र भण्डार का लाभ नहीं उठा सका। इस शास्त्र भण्डार का जो नियम मुझे बताया वह यह है कि ट्रस्ट के सदस्यों के समक्ष ही उनकी विशेष अनुमति से शास्त्र भण्डार खुल सकता है। वैसे वर्ष में एक बार संवत्सरि के समय पूजन आदि के लिये भण्डार खुलता है। इस प्रकार कार्यवाहक महोदय ने भण्डार दिखाने में अपनी असमर्थता दिखाई। मैं निराश इन्दौर से लौट आया। यहां कुछ धार्मिक व्रत, पूजा, प्रतिष्ठा तथा चरित्र आदि विषयों से सम्बन्धित प्रकाशित ग्रन्थ भी हैं।

(4) उज्जैन का शास्त्र भण्डार : उज्जैन जैन दिगम्बर भट्टारकों का पीठ रहा है तथा हमें इसकी एक पट्टावली भी मिलती है। इससे यह बात स्वतः प्रमाणित हो जाती है कि यहां शास्त्र भण्डार होना चाहिये किन्तु आज हमें ऐसा कोई ग्रन्थ भण्डार देखने को नहीं मिलता। वैसे नयापुरा दिगम्बर जैन मंदिर में एक शास्त्र भण्डार है जिसमें हस्तलिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रकाशित ग्रन्थ भी है। व्यवस्थापक महोदय ने ग्रन्थों को व्यवस्थित रूप से रख रखा है। खाराकुआ स्थित चिन्तामणि पार्श्वनाथ मंदिर में भी एक विशाल ग्रंथ भण्डार है किन्तु यहां केवल प्रकाशित पुस्तकें ही संग्रहित हैं। हस्तलिखित ग्रन्थ नहीं है। श्री गणिवर्य श्री अभयसागरजी महाराज ने मुझे एक बार चर्चा के दौरान बताया था कि कुछ वर्षों पूर्व जब वे उज्जैन आये थे तब उन्होंने खाराकुआ पर ही किसी एक व्यक्ति के

पास कुछ सनदें देखी थी। किन्तु वे सनदें अब अप्राप्त है। शायद वे नष्ट हो गई हो? ऐसा भी उनसे विदित हुआ कि यहां पहले एक शास्त्र भण्डार भी था जिसका एक ट्रस्ट भी था। किन्तु उसका क्या हुआ? कोई जानकारी नहीं मिलती।

सिन्धिया प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान, विक्रम विश्वविालय, उज्जैन में हजारों की संख्या में विभिन्न विषयों से सम्बन्धित हस्तलिखित तथा प्रकाशित ग्रन्थ संग्रहित हैं। इस विशाल संग्रहालय में जैनधर्म से सम्बन्धित भी अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ तथा प्रकाशित ग्रन्थ विद्यमान है। जैनधर्म से सम्बन्धित ग्रन्थों की संख्या लगभग एक हजार है। इस संग्रहालय में जैनधर्म से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस प्रकार है-

श्रीपालचरित्र, गौरा बादिल चरित्र (चित्तौड़ के गोरा बादल चरित्र) हंसावली चरित्र, पांडव चरित्र, विक्रम चरित्र, शांतिनाथ चरित्र आदि।

भक्तामर स्तोत्र, वीर जितेश्वर स्तोत्र, ऋषिमंडल स्तोत्र, भक्तामर स्तोत्र, वृत्ति, पार्श्वनाथ स्तोत्र, कल्याण मंदिर स्तोत्र, त्रिपुरादेवी स्तोत्र आदि।

शीलवती कथा, शुक्तावली बालकथा, रोहिणी कथा, मोनेएकादशी कथा, नवकार रासकथा, पालगोपाल कथा, गुणावली कथानक, मेरूतेरसी कथा, दीतवारनी कथा, दंतमंजरी कथा आदि।

उत्तराध्ययसूत्र तत्वार्थराह, भगवतीसूत्रवृतिसमेत, वाक्यप्रकाश, नवतत्वप्रकरण, आराधना, जीवप्रचार प्रकरण, दशप्रश्न निर्युक्ति, तत्वार्थ टीका, महावीर स्तवन, आचारांग तपोविधि, कल्पसूत्र, योगशास्त्रचतुर्थप्रकाश पर्यंत, कर्मग्रंथसूत्र, समाधि तंत्र, समवायांगसूत्र, चूड़ामणि ज्योतिषागर, सप्तशती, चैत्यवंदन, त्रिषष्टिश्लाका पुरुष विचार, विवेकचिंतामणि आदि।

अंजनानो रास, धीरावली, हरिबलरास, नलदमयंति विवाह, रसलहरी (हिन्दी) कुमारपालरास आदि।

इसी प्रकार के और भी अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ इस संग्रहालय में संग्रहित हैं। इनमें अनेक ग्रन्थ तो पूर्ण एवं अच्छी स्थिति में है कुछ ग्रन्थ अपूर्ण है। अथवा कुछ ग्रन्थों के आदि के पृष्ठ उपलब्ध नहीं है तो कुछ के अंतिम पृष्ठ उपलब्ध हैं। किसी-किसी ग्रन्थ का तो केवल एक या दो ही अध्याय उपलब्ध है। फिर भी इस संग्रहालय में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो शोध के लिये उपयोगी है।

इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि उज्जैन दिगम्बर भट्टारकों की गादी थी, तो उसके तारतम्य में यहां साहित्य लेखन का कार्य भी होना चाहिये। यद्यपि भट्टारकों की परम्परा हमें यहां 11वीं शताब्दी तक मिलती हैं किन्तु जो ग्रन्थ उज्जैन में लिखे गये अथवा प्रतिलिपिबद्ध किये गये थे उसके

पर्याप्त बाद के हैं। इस प्रकार के अधिकांश ग्रन्थ आज गुजरात के शास्त्र भण्डारों की शोभा बढ़ा रहे हैं। मैं इस प्रकार के कुछ ग्रन्थों के नाम यहां देने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूं। यथा-

(1) त्रिषष्टियचरित्र दशमपर्व : इस ग्रन्थ की प्रशस्ति इस प्रकार है :-

"संवत् 1324 वर्ष मार्गबदि 13 ..... श्रीमदुज्जय (जि) न्यां श्री महावीरचरित पुस्तकं सा देवसिहेन मातुः श्रोयो र्थ लिखापितम्"

यह पुस्तक शांतिनाथ ज्ञान भण्डार खम्भात में विद्यमान है।[2]

(20 श्री उपदेशमाला (सावचूरि)[3] : "संवत् 1402 वर्ष श्रावण सुदि 12 शुक्रे श्री उपदेशमाला प्रकरणं लिखितं।।ह।। श्री अवंत्या महास्यावंपन्यास विनयानंद योग्य लिखितं।।6।। श्री ।।श्री।। यह पुस्तक मुनि श्री हंसविजयजी के शास्त्रसंग्रह बड़ोदरा में है।

(3) श्री सप्तशती : यह पुस्तक स्वयं के अध्ययनार्थ लिखी गई और श्री जैनसंघ ज्ञान भण्डार पाटण में उपलब्ध है।[4] यथा-

(4) श्री कुमारपाल चरित्रम् : यह ग्रन्थ प्र. श्री कां.वि.सं. शा.सं. बड़ोदा में है। तथा संवत् 1648 के माह अषाढ़ बिदि 5 बृहस्पतिवार को उज्जैन में मुनि श्री आनंदसागरजी के अध्ययन हेतु लिखा गया था।[5]

(5) श्री आबू तीर्थकल्प : यह ग्रन्थ आ. श्री वि.वी.सू.शा.मं. राधनपुर में संग्रहित है।[6] प्रशस्ति इस प्रकार है:-

पंडित श्री 5 विनयरत्नजी पौत्र जेतरत्न लखितं उंझमध्ये वास्तव्य।। बौध ग्रन्थ सारानुसारेण तस्मात् जीर्ण पत्रान् ज्योतरत्न लिखितं संवत 1751 वर्ष माह 4 भौमे। शुभं भवतु। कल्याणमस्तु।।

(6) श्री कल्पसूत्रम् (सोनेरी) : यह ग्रन्थ मु. श्री हंसविजयजी सं. शास्त्र संग्रह बड़ोदा के संग्रहालय में उपलब्ध है। संवत् 1522 में मालवा के तत्कालीन सुल्तान होशंगगौरी (हुसैनसाहि) के राज्य में पवनपुर नामक नगर में लिखा गया था। इसमें श्रीमाल जाति, खरतरगच्छ के आचार्य जिनभद्रसूरि व जिनचन्द्रसूरि आदि के उल्लेख के साथ ही महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह ग्रन्थ कायस्थ जाति के श्री पं.कर्मसिंहात्मज वैणीदास ने लिखा।[7] यथा-

संवत् 1522 वर्ष भाद्रपद सुदि 2 शुक्रे पवनपुरे श्री हुसैन साहि राज्ये। श्रीमांल ज्ञातीय सं. कालिदास धार्यया सें. हासिनी श्री विक्या पुत्रधर्मदास सहितया कल्पपुस्तकं लिषापितं। विहारितं च खरतरगच्छे श्री श्रीजिनभद्रसूरि पट्टालंकार श्री जिनचन्द्रसूरि राजा देशेन श्री कमल संजमोपाध्यायायानां। लिखितं च गोडान्वय कायस्थ पं.कर्मसिहात्मज वैणीदासने।। शुभं भवतु।।

जैरहट नगर जहाँ भट्टारकों की गादी थी। उस स्थान पर भी ग्रन्थ रचना एवं ग्रन्थों की प्रतिलिपि होना स्वाभाविक ही था। साथ ही वहां के आचार्यों के लिये तथा धर्म पिपासु धर्मावलम्बियों के लिये शास्त्र भण्डार भी रहा होगा किन्तु आज उसके सम्बन्ध में हमें कोई जानकरी नहीं मिलती। श्रुतकीर्ति के हरिवंशपुराण ग्रन्थ के अन्त में दो प्रशस्तियां दी गई हैं। पहली प्रशस्ति अपभ्रंश भाषा में एवं दूसरी संस्कृत में है। पहली प्रशस्ति में लिखा है कि यह ग्रन्थ वि.सं.1552 माघ कृष्ण पंचमी सोमवार मालव देशान्तर्गत मण्डवगढ़ में, शाहि गयासुद्दीन के शासनकाल में जेरहट नगर में समाप्त हुआ। दूसरी प्रशस्ति में लिखा है कि सिद्धि सं.1553 आश्विन कृष्ण द्वितीया को मण्डपाचलगढ़ दुर्ग में, सुल्तान गयासुद्दीन के राज्यकाल में दमोवादेश में, महाखान भोजखान, की मौजूदगी में जेरहट नगर के पार्श्वनाथ जिनालय में यह ग्रन्थ परिपूर्ण हुआ।[8]

इस प्रकार मालवा में जैन शास्त्र भण्डारों की कमी नहीं है। लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि जैनधर्मावलम्बी विस्तृत दृष्टिकोण रखकर अपने शास्त्र भण्डारों को विद्वानों के लिये खुले रखे। इसके अतिरिक्त एक सुझाव मेरा यह भी है कि मालवा के जैनशास्त्र भण्डारों की सूचीपत्र के प्रकाशन की व्यवस्था जैन समाज के विद्वानों को करना चाहिये। जब मालवा के समस्त जैनशास्त्र भण्डारों की सूची बनकर तैयार हो जावेगी तो सम्भव है कि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आ सके और उनकी प्रशस्तियों से कई विवादास्पद प्रकरण समाप्त हो सके। साथ ही यह भी सम्भव है कि कुछ चित्रित ग्रन्थ भी उपलब्ध हो जावे और कला के क्षेत्र में मालवा की उपलब्धि और बढ़ जावे।

संदर्भ सूची

1 श्री मांडवगढ़ तीर्थ, पृष्ठ 27
2 श्री प्रशस्ति संग्रह सं.अमृतलाल मगनलाल शाह, पृष्ठ 55, प्रथम भाग
3 वही, पृष्ठ 9
4 श्री प्रशस्ति संग्रह, सं.अमृतलाल मगनलाल शाह, पृष्ठ 304
5 वही, पृष्ठ 145
6 वही, पृष्ठ 259-60
7 वही, पृष्ठ 26
8 प्रशस्ति संग्रह, सं.श्री पं.के.भुजबली शास्त्री, पृष्ठ 151

अध्याय - 9

मालवा के प्रमुख जैनाचार्य

मालवा के प्रमुख जैनाचार्य : जैनाचार्य के दृष्टिकोण से मालवा अत्यन्त भाग्यशाली रहा है। क्योंकि यहां अनेक युगप्रधान जैनाचार्य हो गये हैं। कई जैनाचार्यों ने इसी प्रदेश में जन्म लिया, कई अन्य प्रदेश जैसे गुजरात एवं राजस्थान में जन्म लेकर इस प्रदेश को अपना कर्त्तव्य क्षेत्र बनाकर अमर हो गये। यहां यह उल्लेखनीय है कि जैन साधुओं का जीवन स्थायी न होकर भ्रमणशील रहता है। इस कारण अनेक जैनसाधु यद्यपि मालवा में जन्मे पर कहीं ओर ही उन्होंने अपना कर्त्तव्य स्थल बनाया। यद्यपि इन आचार्यों ने धर्म, दर्शन तथा अन्य विभिन्न विषयों को अमूल्य देन दी है किन्तु इन्होंने अपने स्वयं के जीवन से सम्बन्धित कुछ भी नहीं लिखा। ऐसी स्थिति में जैनाचार्यों के विषय में कुछ भी लिखना बड़ा कठिन हो जाता है। फिर भी उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर मालवा के प्रमुख जैनाचार्यों के व्यक्तित्व एवं कृतत्व पर प्रकाश डालने का प्रयास नीचे किया जा रहा है।

(1) आचार्य केशीगणधर : उज्जैन के राजा जयसेन और उनकी रानी अनंगसुन्दरी के पुत्र केशीकुमार ने श्री विदेशी मुनि के व्याख्यान को सुनकर जैनधर्म स्वीकार किया। उनसे ही केशीकुमार को पूर्व वृतांत सुनकर जाति स्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ और बाद में स्वयं के माता पिता तथा 500 अन्य व्यक्तियों ने भी जैन भागवती दीक्षा ग्रहण की। परिशीलन एवं अपनी योग्यता के आधार पर गणनायक पद प्राप्त किया। ये आचार्य तात्विक, व्याख्याता वास्तविक पक्ष को प्रस्तुत करने वाले तथा सत्य की खोज करने वाले थे। ये मति श्रुत और अवधि ये तीनों ही ज्ञान के धारक थे। श्वैतांबिक का राजा नास्तिक था। मंत्री की प्रेरणा से वह आचार्य के पास आया और आचार्य से राजा ने अनेक प्रकार के प्रश्न किये। आचार्य के उत्तर से संतुष्ट होकर जैनधर्म स्वीकार कर लिया।

गणधर श्री केशी स्वामी श्रावस्ती नगर के तंदुकवन में थे। वहां भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूमि गौतम स्वामी आये। वे भगवान पार्श्वनाथ तथा महावीर स्वामी के शासन में भिन्नता देखते थे। यहां निम्नांकित विषयों पर

वार्तालाप किया गयाः-

(1) महाव्रत (2) वस्त्रवेष (3) एककी जय (4) स्नेहपाश मुक्ति (5) तृष्णलता छेद (6) कषायाग्नि शमन (7) मनोवैशदमन (8) सन्मार्ग (9) द्वीप (10) शरीर का सच्चा नाविक (11) सर्वज्ञ प्रकाश और (12) निर्वाण सुख।

इस विवाद का परिणाम यह निकला कि तीर्थंकरों का एक ही मार्ग है। गणधर श्री केशी स्वामी ने पांच महाव्रत स्वीकार कर भगवान महावीर स्वामी के शासन में प्रवेश लिया और उनके द्वारा श्रमण संघ 'पार्श्वपत्य' प्रकट हुआ।

इस श्रमण संघ के निग्रंथ चातुर्यामी, पार्श्वनाथ संतानीय, द्विवंदनीक, कंवलागच्छ आदि अनेक नामों से तथा माथुरगच्छ, कोरंटगच्छ, कुकुद शाखा, भिन्नमाला शाखा, चन्द्रावती शाखा, मेड़ता शाखा, खट्टकूप शाखा, बीकानेरी शाखा, खजवाना शाखा, कोरंट शाखा तपरत्न शाखा आदि अनेक भेद हैं। गणधर श्री केशी स्वामी भगवान महावीर के समकालीन आचार्य थे।[1]

(2) आचार्य भद्रबाहु[2] : 'भद्रबाहुचरित्र' में उज्जैन के महाराजा चन्द्रगुप्त के गुरु श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का जीवन चरित्र लिखा है। आचार्य भद्रबाहु जैनाचार्यों में प्रमुख हैं। भद्रबाहुचरित्र में- राजा चन्द्रगुप्ति के भावी अनिष्ट फल के सूचक सोलह स्वप्न देखने तथा आचार्य भद्रबाहु के उज्जैन आने एवं बाद में बारह वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ने वाला है ऐसा जानकर दक्षिण देश में जाने के साथ ही चन्द्रगुप्ति द्वारा जैनधर्म स्वीकार कर भद्रबाहु के साथ दक्षिण देश जाकर अपने गुरु भद्रबाहु की सेवा करने का उल्लेख किया गया है। दक्षिण का यह देश मैसूर का श्रवण-बेलगोला बतलाया जाता है।

"आराधना कथाकोश एवं पुण्याश्रव कथाकोश में भी यही कथा पाई जाती है और श्रवण बेलगोला की स्थानीय अनुश्रुति भी यही बतलाती है।

श्रीमेरूतुंगाचार्य ने प्रबन्धचिन्तामणि में आचार्य भद्रबाहु को आचार्य वराहमिहिर का सगाभाई बतलाया है। वहां वह वराहमिहिर को पाटलिपुत्र का रहने वाला बतलाया है। वराहमिहर का समय ई. पू. 123 से 43 है। तब यही समय भद्रबाहु का भी होना चाहिये।

भद्रबाहु के समय के विषय में विद्वानों में एकमत नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदाय का कथन है कि भद्रबाहु नाम के दो आचार्य हुए हैं- प्रथम चुन्दगुप्त मौर्य के समकालीन थे जिनका देहान्त महावीर स्वामी के निर्वाण के 162 वर्ष बाद हुआ अर्थात् ई. पू. 365 और दूसरे आचार्य का देहान्त उक्त निर्वाण के 515 वर्ष बाद ई. पूर्व 12 में हुआ। जेकोबी ने भद्रकल्पसूत्र की भूमिका में और शतीषचन्द्र विद्याभूषण ने History of Indian Logic में इस मत की पुष्टि की है। परन्तु इन

दोनों आचार्यों से वह भद्रबाहु पृथक् थे जिन्होंने उत्तराधिकार के विषय में धर्मशास्त्र (कानून) का ग्रन्थ भद्रबाहुसंहिता लिखा।

आचार्य भद्रबाहु भगवान महावीर के बाद छठवें थेर माने जाते हैं। 'दसाउ' और "दस निर्ज्जुति" के अतिरिक्त उनके कल्पसूत्र का जैन धार्मिक साहित्य में बहुत महत्त्व है।

भद्रबाहु के चले जाने के अनंतर ही श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय अलग-अलग हुए हैं। इसलिये जैन साहित्य में भद्रबाहु और उज्जैन का स्थान बहुत ऊंचा है।

(3) श्रीआर्य सुहस्तिसूरि : श्रीआर्य सुहस्तिसूरि के जीवन का विवरण इस प्रकार मिलता है:-

गृहस्थाश्रम 30 वर्ष, चारित्रपर्याय 70 वर्ष जिसमें सामान्य व्रत पर्याय 24 वर्ष, युगप्रधान 46 वर्ष, सुर्वायु 100 वर्ष स्वर्ग गमन म.सं.291 अर्थात् ई.पू.236 गौत्र वाशिष्ट।[3]

स्थूलभद्र के द्वितीय पट्टधर आर्य सुहस्तिसूरि 30 वर्ष की वय में दीक्षित होकर 24 वर्ष तक सामान्य व्रती रहे। अनन्तर 46 वर्ष तक युगप्रधान पद भोगा और सौ वर्ष की आयुष्य पूरा करके आर्य सुहस्ति जिन निर्वाण से 343 वर्ष में स्वर्गवासी हुए।[4]

दोनों उल्लेख में शेष सब बातें समान है किन्तु आर्य सुहस्तिसूरि के स्वर्गारोहण की तिथि में अन्तर है यह अन्तर क्यों है यह कहना कठिन है।

उज्जैन में "जीवंत स्वामी" की रथ यात्रा के समय उज्जैन के तत्कालीन सम्राट सम्प्रति ने सुहस्तिजी को देखा और देखकर स्वामीजी के विषय में वह सोचने लगा। जब बार-बार ऐसा विचार आने लगा, तब राजा सम्प्रत को मूर्च्छा आ गई। राजा को जब चेतना आई, तब उसे स्मरण आया कि ये पूर्व जन्म के उपकारी मुनि हैं। तब उसने मुनिजी के चरणों में अपना मस्तक झुकाया। मुनिजी और राजा सम्प्रति में अनेक विषयों पर वार्तालाप हुआ। परिणामतः राजा सम्प्रति जैनधर्म में दीक्षित हुआ और जैनधर्म की उन्नति के लिये उसने अनेक कार्य किये।[5]

(4) श्री भद्रगुप्ताचार्य- श्री भद्रगुप्ताचार्य श्री वज्रस्वामी के विद्या गुरु थे। जहां सिंहगिरि ने वज्रस्वामी को पूरी पूरी शिक्षा दी, वहीं यह भी कहा कि उज्जयिनी नगरी में जाकर श्री भद्रगुप्ताचार्य के पास शेष श्रुतों का अभ्यास करें।

श्री भद्रगुप्ताचार्य को एक बार स्वप्न आया कि कोई अतिथि आकर उनका दूध से भरा पात्र खाली कर गया है, अर्थात् दूध पी गया है। इस स्वप्न की

वास्तविकता से शिष्यों को अवगत करवाते हुए कहा कि समस्त दस पूर्व का अभ्यास करके कोई व्यक्ति मेरे पास आ रहा है। जब ऐसा गुरु श्री भद्रगुप्ताचार्य बोल रहे थे, तभी वज्रस्वामी उनको प्रणाम कर खड़े हो गये थे। वज्रस्वामी की प्रतिभा और ललाट देखकर श्री भद्रगुप्ताचार्य ने उसे समस्त श्रुत का ज्ञान कराकर अपने गुरु के पास भेज दिया।[6]

श्री भद्रगुप्ताचार्य के अंत समय की आराधना आर्यरक्षित सूरि ने करवाई थी। विशेष ज्ञानार्जन के लिये जहाँ आर्यरक्षितसूरि तोशलीपुत्र आचार्य की आज्ञा से वज्रस्वामी के पास आये वहीं वज्रस्वामी के विद्या गुरु श्री भद्रगुप्ताचार्य ने भला एवं योग्य व्यक्ति जानकर आर्यरक्षितसूरि से कहा कि आर्यरक्षित मेरे इस अंतिम समय में तू ही मेरा सहायक हो। आर्यरक्षितसूरि ने यह स्वीकार किया और ऐसी सर उपासना की कि श्री भद्रगुप्ताचार्य को प्रशंसा करना पड़ी।[7]

(5) श्रीआर्यरक्षितसूरि : नंदीसूत्रसवृत्ति से यह प्रतीत होता है कि वीर निर्वाण संवत् 584 ई.सन् 57 में दशपुर में आर्यरक्षितसूरि नामक एक सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हो गये हैं, जो अपने समय के उद्भट विद्वान, सकल शास्त्र पारंगत एवं आध्यात्मिक तत्त्ववेत्ता थे। यही नहीं, यहां तक इनके वर्णन में उल्लेख किया गया है कि ये इतने विद्वान् थे कि अन्य कई गणों के ज्ञान पिपासु जैनसाधु आपके शिष्य रहकर ज्ञान प्राप्त करते थे। उस समय आर्यरक्षितसूरि का शिष्य होना महान् भाग्यशाली होने का सूचक माना जाता था। फलतः आपके शिष्यों एवं विद्यार्थियों की संख्या का कोई पार ही नहीं था।[8]

आर्यरक्षितसूरि का दशपुर से घनिष्टतम सम्बन्ध था। दशपुर में जब उदयन राज कर रहा था, उस समय उसके एक पुरोहित था जिसका नाम सोमदेव था। सोमदेव की रूद्रसोमा नाम की पत्नी थी इनके दो पुत्र थे- आर्यरक्षित एवं फल्गुरक्षित।

प्रासंगिक कथानक का उल्लेख करते हुए नंदीसूत्र में इस प्रकार कहा गया है:-

"आस्ते पुरं दशपुरं, सारं दशदिशामिव।
सोमदेवो द्विजस्तत्र, रूद्रसोमा च तत्प्रिया।।
तस्यार्यरक्षितः सूनुरनूजः फल्गुरक्षितः।।

पुरोहित सोमदेव ने जो स्वयं उच्चकोटि के विद्वान थे अपने ज्येष्ठ पुत्र आर्यरक्षित को अपनी अध्ययन की हुई समस्त विद्याओं का अध्ययन कराया। किन्तु कुशाग्र बुद्धि मेधावी आर्यरक्षित इतने ही से सन्तुष्ट नहीं हुए और अधिक विद्याययन के लिये पाटलिपुत्र चले गये। वहां उन्होंने लगन एवं तन्मयता के साथ वेद उपनिषद् आदि चतुर्दश विद्याओं का अध्ययन किया। जब विद्याध्ययन कर

आर्यरक्षितसूरि अपनी जन्मभूमि दशपुर लौटकर आये तब राजा, पुरोहित, एवं नगरवासियों ने आपका हार्दिक अभिनन्दन के साथ भव्य स्वागत किया। आर्यरक्षित अपनी माता रूद्रसोमा को छोड़कर प्रायः समस्त परिवार से मिल चुके थे। वे अधिक उत्सुक होकर अपार प्रसन्नता के साथ माता के समीप चले गये एवं प्रणाम किया तो माता चतुर्दश विद्याधीत, अलौकिकगुण सम्पन्न आर्यरक्षित जैसे पुत्र का साधारण शब्दों में स्वागत करती हुई कुछ भी न बोलकर मौन हो गई। माता के इस ओदासिन्य पर आर्यरक्षित के विज्ञ किन्तु कोमल मानस पर वज्रघात सा हुआ और वे तत्काल ही विनय भरे शब्दों में अपनी माता से निवेदन करने लगे, "हे माता, क्या आपको मेरे अध्ययन से सन्तोष नहीं हुआ?"

माता रूद्रसोमा ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर देते हुए अपने पुत्र से कहा- "आर्यरक्षित! तेरे विद्याध्ययन से मुझे तब सन्तोष एवं प्रसन्नता होती जब तू जैनदर्शन एवं उसके साथ ही विशेषतः दृष्टिवाद का समग्र अध्ययन कर लेता।"

माँ की मनोभावना एवं उसके आदेशानुसार आर्यरक्षित इक्षुवाटिका में गये, जहां आचार्य श्री तौशलीपुत्र विराजमान थे एवं उनसे निवेदन किया कि, "भगवन्! मैं दृष्टिवाद का अध्ययन करने हेतु आपकी शरण में आया हूं।"

आचार्य तौशलीपुत्र ने आर्यरक्षित की तीव्रता मेधा, प्रखर पांडित्य एवं सर्वतोऽधिक विनयशीलता देखकर यह अनुमान किया कि निश्चय ही यह जैन दर्शन का अध्ययन कर आत्मकल्याण के साथ ही जैन शासन की उन्नति में सहायक सिद्ध होगा। उन्होंने आर्यरक्षित को सम्बोधित करते हुए कहा- "दीक्षया धीयते हि सः वत्स दृष्टिवाद का अध्ययन दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ही किया जाता है। अतएव यदि तुम दीक्षा ग्रहण करो तो मैं तुम्हें सहर्ष दृष्टिवाद का अध्ययन करा दूंगा। अन्यथा नहीं। इसलिये कि जैन दीक्षा के बिना दृष्टिवाद का अध्ययन सर्वथा असम्भव ही है।"

"ज्ञान प्राप्ति एवं विशेषतः मातृहृदय को सन्तुष्ट करने के लिये दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिये आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। भगवन्! मैं जैन दीक्षा ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत हूं। मुझे यथाशीघ्र ही दीक्षित कर ज्ञान दान दीजिये प्रभो।" आर्यरक्षित ने आचार्य तौशलीपुत्र से करबद्ध होकर निवेदन किया।

विशुद्ध ज्ञानपिपासु मैधावी आर्यरक्षित की प्रार्थना स्वीकार करते हुए आचार्य तौशलीपुत्र ने उन्हें दीक्षा दे दी एवं अन्य नगर में वे विहार कर गये। वहीं उन्होंने आर्यरक्षित को जप, तप, संयम अनेक सिद्धियों के साथ क्रमशः अंग तथा उपांग एवं सूत्र तथा कतिपय पूर्वों का अध्ययन कराया। इसी प्रकार

"दृष्टिवादो गुरोः पार्श्वे यो भूतमपि सो पद्धति।"

अपने गुरु के पास जो दृष्टिवाद था उसका भी आर्यरक्षित ने समग्र अध्ययन किया।

इतने से आर्यरक्षित की ज्ञान पिपासा शान्त नहीं हुई और वे अपने गुरुदेव की आज्ञा से गीतार्थ मुनियों के साथ उज्जयिनी पहुंचे। वहां आचार्य भद्रगुप्तसूरि की सेवा में उनके स्वर्गगमन तक उनके द्वारा आदेश दिये गये नियमों का पालन करते हुए आर्य वज्रस्वामी के समीप पहुंचे एवं उनके अन्तेवासी बनकर विद्याध्ययन करने लगे।

इधर माँ रूद्रसोमा ने पुत्र के वियोग में अत्यधिक सन्तप्त हो आर्यरक्षित को बुलाने के लिये अपने द्वितीय पुत्र फल्गुरक्षित को उनके समीप भेजा।

फल्गुरक्षित ने अपनी माता का सन्देश सुनाते हुए आर्यरक्षित से कहा, 'हे भाई! आओ, पूरा परिवार तुम्हें देखने को उत्सुक है।"

"यदि यह सत्य है, फल्गुरक्षित। तो सर्वप्रथम तुम भी दीक्षा लेकर विद्याध्ययन करो। सम्पूर्ण विद्याओं के साथ समग्र जैनदर्शन का अध्ययन कर हम दोनों एक साथ ही पूरे परिवार एवं माताजी से मिलने चलेंगे।" आर्यरक्षित ने प्रसन्न होकर फल्गुरक्षित से कहा। फल्गुरक्षित ने विचार कर अपने अग्रज की बात मान ली एवं दीक्षा लेकर उन्हीं के समीप विाध्ययन करने लगे।

एक दिन अध्ययन करते करते विचारमग्न हो सोचने लगा एवं गुरु वज्रस्वामी से उसने पूछा- "गुरुदेव! दशमपूर्व की यविकाओं का तो मैं अध्ययन प्रायः समाप्त कर चुका हूं अब कितना अध्ययन और शेष है?"

कुछ दिन और गहन अध्ययन में व्यतीत होने के पश्चात् पुनः आर्यरक्षित ने गुरुदेव से वही प्रश्न किया।

"आर्यरक्षित। अभी तुमने मेरू में सरसों जितना और सागर में बिन्दु जितना अध्ययन किया है। इस प्रकार अपार एवं गहनतम विषय में से अभी एक ही चरण लिया है, अभी अनन्त अनन्त शेष है।" वज्रस्वामी का उक्त कथन सुनकर आर्यरक्षित नतसिर हो पुनः ज्ञान की साधना एवं तत्त्व की आराधना में लग गये।

पुनः एक दिन अवसर पाकर आर्यरक्षित ने वज्रस्वामी से निवेदन किया, "भगवन्! मुझे देखने के लिये मेरे सम्बन्धी उत्सुक हो रहे हैं। यह देखिये फल्गुरक्षित, मेरा अनुज मुझे बुलाने आया है। कृपया मुझे एक बार जाने की अनुमति दीजिये। मैं तत्काल ही वहां से पुनः लौटकर अपने अध्ययन में रत हो जाऊंगा।

वज्रस्वामी ने आदेश देते हुए कहा- "वत्स! यदि तुम जाना ही चाहते हो तो जाओ। तुम्हें आशीर्वाद देता हूं कि अधीन ज्ञान तुम्हारी आत्मा के लिये कल्याणकारी हो।"

आर्य वज्रस्वामी की आज्ञा प्राप्त कर आर्यरक्षित दशपुर की ओर विहार करने के पूर्व अपने दीक्षा गुरु आचार्य तौशलीपुत्र के दर्शनार्थ उनके समीप गये। आचार्यदेव ने अपने शिष्य आर्यरक्षित को सर्वथायोग्य समझकर आचार्य पद दे दिया एवं दूसरे भव की साधना में लग गये।

आचार्य होकर आर्यरक्षित ने दशपुर की ओर विहार किया। नगर के समीप पहुंचते ही फल्गुरक्षित ने प्रथम जाकर माता को शुभ संदेश दिया। अधिक दिवसों के पश्चात् अपने पुत्र के आगमन का शुभ संदेश सुनकर रूद्रसोमा अत्यधिक प्रसन्नता से पुलकित हो उठी एवं पुत्र के स्वागत में जुट गई। जब पिता सोमदेव एवं माता रूद्रसोमा अन्य सम्बन्धियों एवं नागरिकों के साथ नगर के बाह्योद्यान में पहुंचे तो दर्शन कर वे दोनों मुग्ध रह गये।

रूद्रसोमा प्रारम्भ से ही जैन मतावलम्बी श्राविका थी। अपने पुत्र के दीक्षित मुनिवेश में दर्शनकर उसके नयनों में हर्षाश्रु भर आये और वह अपने आपको धन्य मानने लगी।

आचार्य आर्यरक्षित ने अपने माता पिता एवं जनसमुदाय को ऐसा प्रभावोत्पादक आत्मकल्याणकारी मंगलमय उपदेश दिया कि सभी दीक्षित होने के लिये प्रार्थना करने लगे और प्रव्राज्य स्वजनान सर्वान्, सौजन्य प्रकटीवृतक।। आर्यरक्षित ने माता पिता, भार्या तथा अन्यपरिवार जनों एवं दूसरे भाविक मनुष्यों को दीक्षा देकर मुनिव्रत दे दिया एवं इस प्रकार अपनी सज्जनता का शुभ परिचय देते हुए वह कार्य किया जो प्रायः बिरले ही जन किया करते हैं।

जैन इतिहास के पूर्वाचार्यों के इतिहास का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आचार्य आर्यरक्षितसूरि पूर्वाचार्यों में महान् परमोज्जवल, यशस्वी एवं सर्वतोमुखसी, प्रतिभासम्पन्न जैनाचार्य हो गये हैं। निश्चित ही वे अपने समय में उद्भट अद्वितीय विद्वान् एवं तत्ववेत्ता, आदर्श आचर्य थे। उनकी इस अलौकिक विद्वता एवं अभूतपूर्व देवोपम जीवन से मालव देश के प्राचीन दशपुर को वस्तुतः गौरवशाली महान् पद प्राप्त हुआ है।

आचार्य आर्यरक्षितसूरि ने न केवल अपने ही क्षेत्र में, अपितु यत्र-तत्र-सर्वत्र विचरण करते हुए जहां-जहां समाज अज्ञानांधकार में लिप्त हो कुपथगामी हो रहा था, या पूर्व से ही था, उसको विशुद्ध जैनदर्शन का प्रकाश दान कर सन्मार्ग प्रदर्शित किया जिस पर चलकर असंख्य समुदाय ने आत्म कल्याण किया। उस समय की सुषूप्ति को जाग्रति में परिणित कर समाज में श्रावकों की संख्या में आचार्य प्रवर ने जो अभिवृद्धि की वस्तुतः वह असाधरण ही थी। एक बार जो भी व्यक्ति आपके सम्पर्क में आते कि उन्हें सहसा ज्ञान का चमत्कार-पूर्ण

दिव्य प्रकाश प्राप्त होता था।

वे जाग्रत होकर श्रावकत्व ग्रहण करते। साधुत्व एंव आचार्यत्व को पर्याप्तरीत्या सार्थक करते हुए आचार्य आर्यरक्षितसूरि ने अपने स्वयं का कल्याण करते हुए 'स्व' में ही पर के दर्शन कर समुदारवृत्ति से विभिन्नरीत्या जो कल्याण किया वह अपने समय का एक अनुपम आदर्श ही है।

वैसे आर्यरक्षितसूरि का शिष्य समुदाय भारी संख्या में था ही, किन्तु उनके मुख्य शिष्यों के सम्बन्ध में कहा है कि:-

तत्र गच्छे च चत्वारो, मुख्यास्तिष्ठन्ति साधवः
आथो दुर्बलिका पुष्पो, द्वितीयः फल्गुरक्षितः।
विन्ध्य स्तुतीयको गोष्ठा-महालक्ष्च चतुर्थकः।।

उनके गच्छ में मुख्यतः आर्यरक्षित के चार शिष्य थे- दुर्बलिकापुष्प, फल्गुरक्षित, विन्ध्य, एवं गोष्ठमाहिल ये चारों ही चारों दिशाओं में प्रसिद्धि प्राप्त विद्वान् एवं तत्त्वज्ञानी थे। इनकी विद्वता के सामने किसी भी विषय का कोई भी शास्त्रपारंगतधुरन्धर पंडित शास्त्रार्थ के लिये साहस नहीं करता था। कहते हैं कि एक समय गोष्ठमाहिल ने मथुरा में किसी विद्वान को शास्त्रार्थ में ऐसा पराजित किया कि वह उनकी मनस्विता पर मुग्ध हो अपने अहंत्व का परित्याग कर इनका शिष्य बन गया। इसमें गोष्ठामाहिल के साथ ही इनके गुरु आर्यरक्षित एवं शेष तीनों शिष्यों के प्रकाण्ड पांडित्य एवं उनकी तज्जन्यनिर्मल यशस्विता का चारों ओर व्यापक रूप से प्रचार तथा प्रसार हो गया।

आचार्य आर्यरक्षितसूरि ने बहुजन हिताय व सुखाय सार्वजनिक हित दृष्टया सबसे उत्तम एवं महान् कार्य किया है उन्होंने दूरदर्शिता से यह जानकारी कि वर्तमान के साथ ही भविष्य में भी जैनागमों की गहनता एवं दुसहवृत्ति से असाधरण मेधावी भी एक बार उन्हें समझने में कठिनाई का अनुभव करेगा, इसलिये आगमों को चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया। वे यहां तक समझ गये थे कि-

चतुर्ष्वेकेवसूत्रार्थाख्या ने स्यात्को पि न क्षमः।

इन विद्या व्यसनी परम मनस्वी चारों शिष्यों में से भी कोई एक एक सूत्र की व्याख्या करने में पूर्णतः समर्थन हो सकेगा। ऐसी स्थिति में किसी दूसरे की शक्ति नहीं कि विशुद्ध व्याख्या कर उन्हें अपने जीवन में आत्मसात कर सके। इसके पश्चात् आर्यरक्षितसूरि ने उन आगमों को पृथक चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया। इसके अतिरिक्त आपने अनुयोग द्वार सूत्र की भी रचना की जो जैन दर्शन का प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण आगम माना जाता है।[9]

वज्रस्वामी की मृत्यु के 13 वर्ष बाद तक आर्यरक्षितसूरि युगप्रधान रहे। आर्यरक्षित का निर्वाण दशपुर में ही हुआ था।[10]

(6) आर्यवज्रस्वामी : जैन ग्रन्थों में आर्य वज्र का नाम बड़े आदर से लिया गया है। "श्री दुसमा काल समण संघ माये" में दिये गये प्रथमोंदय युगप्रधान पट्टधर ये बताये गये हैं और लिखा है कि उन्होंने आठ वर्ष गृहवास किया, 44 वर्ष व्रतपर्याय पाला, 36 वर्ष युगप्रधान रहे और इस प्रकार 88 वर्ष 7 मास की आयु बितायी।[11] भगवान महावीर के 548 वर्ष पश्चात् इनका निधन हुआ।[12]

जैन ग्रन्थों में सर्वत्र आर्यवज्र का जन्मस्थान तुम्बवन बताया गया है। जैन ग्रन्थों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि तुम्बवन अवंति जनपद में था। अवंन्ति के सम्बन्ध में हेमचन्द्राचार्य ने अभिधान चिंतामणि में लिखा है:-

------"**मालवा स्युखन्तयः** (भूमिकांड श्लोक 22)

ऐसा ही उल्लेख अमरकोश में भी है। वैजयंती कोश में आता है।

------ **दशार्णस्युर्वेदियारा मालवास्युवन्तयः** (भूमिकांड-देशाध्याय श्लोक 37) वैजयंतीकोश

मालवा स्युखन्तयः (अमरकोश द्वितीयकांड भूमिवर्ग श्लोक 9)

तात्पर्य यह हुआ कि तुम्बवन अवंति जनपद में था। तुम्बवन एवं अन्यान्य प्रमाणों के आधार पर जैनाचार्य विजयेन्द्रसूरीश्वर ने तुम्बवन की समता गुना जिले के वर्तमान तूमैन से की है।[13] तूमैन जैनधर्मावलम्बियों का तीर्थस्थान भी माना जाता है।

वज्रस्वामी के पिता धनगिरि इस तुम्बवन के रहने वाले थे और तुम्बवन में ही आर्यवज्र का जन्म हुआ था। इनका चरित्र परिशिष्ट पर्व सर्ग 12, उपदेशामला सटीक (207-214), प्रभावकचरित (3-8), ऋषिमंडल प्रकरण (192-2, 199-1), कल्पसूत्र सुबोधिका टीका आदि ग्रन्थों में मिलता है।

आर्य वज्र के पिता का नाम धनगिरि था। उनके लिये इवभपुत्र लिखा है। इब्भ शब्द का अर्थ हेमचन्द्र ने देशीनाममाला (प्रथम वर्ग 1 श्लोक 79) अभिधान चिंतामणि में लिखा है, इभ्य आह्यो धनीश्वरः (मर्त्यमांड-श्लोक 29) ऐसा ही उल्लेख पाइव लच्छीनाममाला में लिखा है-

अ उ ठा इब्भा घणिणो) में लिखा है।[14]

इब्भ और वणिया दोनों समानार्थक है। उनका गोत्र गौतम लिखा है। धनगिरि धर्मपरायण व्यक्ति थे। जब उनके विवाह की बात उठती तो वे कन्यावालों को कह आते थे कि मैं तो साधु होने वाला हूं, पर धनपाल नामक एक श्रेष्ठि ने अपनी पुत्री सुनन्दा का विवाह धनगिरि से कर दिया। अपनी पत्नी को गर्भवती

छोड़कर धनगिरि ने सिंहगिरि से दीक्षा ले ली। कालान्तर में बच्चे का जन्म हुआ तो अपने पिता के दीक्षा लेने की बात सुनकर बालक को जाति स्मरण ज्ञान हुआ। माता का मोह कम करने के लिये बालक दिन रात रोया करता। एक दिन धनगिरि और समित भिक्षा के लिये जा रहे थे। उस समय शुभ लक्षण देखकर उनके गुरु ने आदेश दिया कि जो भी भिक्षा मिले ले लेना। ये दोनों साधु भिक्षा के लिये चले तो सुनन्दा ने (जो बच्चे से ऊब गयी थी) बच्चे को धनगिरि को दे दिया। उस समय बच्चे की उम्र 6 मास की थी। धनगिरि ने बच्चे को झोली में डाल लिया और लाकर गुरु को सौंप दिया। अतिभारी होने के कारण गुरु ने बच्चे का नाम वज्र रख दिया[15] और पालन पोषण के लिये किसी गृहस्थ को दे दिया। श्राविकाओं और साध्वियों के सम्पर्क में रहने से बचपन में ही बालक को ग्यारह अंग कंठस्थ हो गये।

बालक की आयु जब तीन वर्ष की हुई तब उसकी माता ने राजा की सभा में विवाद प्रस्तुत किया। राजसभा में बालक को उसकी माता ने बड़े प्रलोभन दिखाए परन्तु बालक उस और तनिक भी आकर्षित नहीं हुआ और धनगिरि के पास जाकर उनका रजोहरण उठा लिया।

आठ वर्ष की उम्र में वज्र को गुरु ने दीक्षा दे दी। उसी कम उम्र में ही देवताओं ने उन्हें वैक्रियलब्धि और आकाशगामिनी विद्या दे दी। वज्रस्वामी ने उज्जयिनी में भद्रगुप्त से दस पूर्व की शिक्षा ग्रहण की।

कालान्तर में आर्यवज्र पाटलिपुत्र गये। वहां रुक्मिणी नामक एक श्रेष्ठि कन्या ने आर्य वज्र से विवाह करना चाहा, परन्तु आर्यवज्र ने उसे दीक्षा दे दी। पाटलिपुत्र से आर्यवज्र पुरिका नगरी आये। वहां के बौद्ध राजा ने जिन मंदिरों में पुष्पों का निषेध कर दिया था अतएव पर्युषण में श्रावकों की विनती पर आकाशगामिनी विद्या द्वारा माहेश्वरीपुरी जाकर एक माली से पुष्प एकत्र करने को कहा और स्वयं हिमवत पर जाकर श्री देवीप्रदत्त हुताशनवन से पुष्पों के विमान द्वारा पुरिका आये और जिन शासन की प्रभावना की तथा बौद्ध राजा को भी जैन बनाया।[16] प्रकट है कि इन किंवदन्तियों का कोई अर्थ नहीं।

एक दिन आर्यवज्र ने कफ के उपशमन के उद्देश्य से कान पर रखी सोंठ प्रतिक्रमण के समय भूमि पर गिर गयी। इस प्रमाद से अपनी मृत्यु निकट आयी जानकार आर्यवज्र ने, अपने शिष्यों को बुलाकर कहा, "अब बारह वर्ष का दुष्काल पड़ेगा। जिस दिन मूल्यवाला भोजन तुम्हें भिक्षा में मिले उससे अगले दिन सुबह ही सुभिक्ष हो जावेगा।" यह कहकर उन्होंने शिष्यों को अन्यत्र विहार करा दिया और स्वयं रथावर्त पर्वत पर जाकर अनशन करके देवलोक चले गये। यह

रथावर्त पर्वत विदिशा के निकट था। इसका नाम गजाग्रद गिरि और इन्द्रपद भी है।

आचार्य वज्र के जीवन से सम्बन्धित निम्नांकित नगर बताये जाते हैं:-

तुम्बवन, उज्जयिनी, पाटलिपुत्र, पुरिका, हिमवत, हुताशनवन एवं रथावर्त।[17]

आर्य वज्रस्वामी की दीक्षा वीर निर्वाण सं.490 में युगप्रधान पद प्राप्ति वी.नि.सं.534 में तथा निर्वाण 570 में हुआ।[18]

(7) आचार्य कालक : आचार्य कालक एक राजवंश में जन्म थे। कालान्तर में वे जैन मुनि हो गये। एक घटना से उनका महत्त्व विशेष बढ़ गया है। उनकी साध्वी बहिन सरस्वती पर आसक्त होकर उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल ने उसको अपने अन्तःपुर में डाल दिया। सूरि कालक ने बहुत अनुनय विनय की परन्तु कामांध राजा गर्दभिल्ल नहीं माना। क्रुद्ध होकर कालकाचार्य ने राजा गर्दभिल्ल को उन्मूल करने का संकल्प किया और अवन्तिदेश का परित्याग करके सिंधुदेश (शककुल) को प्रस्थान किया। वहां के 96 साहि (सामन्त) से वहां का नरेश (साहानुसाहि) अप्रसन्न था। आचार्य कालक की सलाह लेकर वे 96 साहि "हिन्दुक देश" को चले दिये। उन्होंने पहिले सौराष्ट्र जीता, फिर उज्जैन आकर गर्दभिल्ल राजा पर विजय प्राप्त की। कालक की सहायता से उज्जैन में शकों का राज्य प्रारम्भ हुआ। कालान्तर में प्रजा शक राज्य से तंग आ गई। तब गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने सेना एकत्र करके शकों को युद्ध में पराजित किया।[19] इस कथानक से जैन आचार्य कालक का सर्वव्यापी प्रभाव परिलक्षित होता है।

(8) सिद्धसेन दिवाकर : पं.सुखलाल[20] ने श्री सिद्धसेन दिवाकर के विषय में इस प्रकार लिखा है- "जहां तक मैं जान पाया हूं, जैन परम्परा में तर्कविद्या का और तर्कप्रधान संस्कृत वांगमय का आदि प्रणेता है सिद्धसेन दिवाकर।"

सिद्धसेन का सम्बन्ध, उनके जीवन कथानकों के अनुसार उज्जयिनी और उसके अधिपति विक्रम के साथ अवश्य रहा है, पर यह विक्रम कौनसा? यह एक विचारणीय प्रश्न है। अभी तक के निश्चित प्रमाणों से जो सिद्धसेन का समय विक्रम की पांचवी और छठी शताब्दी का मध्य जान पड़ता है उसे देखते हुए अधिक संभव यह है कि वह राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय या उसका पौत्र स्कन्दगुप्त रहा होगा जो विक्रमादित्य रूप से प्रसिद्ध हुए। सभी नये पुराने उल्लेख यह कहते हैं कि सिद्धसेन जन्म से ब्राह्मण थे।

सिद्धसेन ने गद्य में कुछ लिखा हो तो पता नहीं है। उन्होंने संस्कृत में बत्तीसिया रची है जिनमें से इक्कीस अभी लभ्य है। उनका प्राकृत में रचा, "सम्मतिप्रकरण" जैनदृष्टि और मन्तव्यों को तर्क शैली से स्पष्ट करने तथा स्थापित करनेवाला जैन वाङ्मय में सर्वप्रथम ग्रन्थ है जिसका आश्रय उत्तरवर्ती

सभी श्वेताम्बर दिगम्बर विद्वानों ने लिया है। सिद्धसेन ही जैन परम्परा का आद्य संस्कृत स्तुतिकार है।[21]

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी[22] ने सिद्धसेन दिवाकर के विषय में लिखा है कि जैन ग्रन्थों में सिद्धसेन दिवाकर को साहित्यिक एवं काव्यकार के अतिरिक्त नैयायिक और तर्कशास्त्रों में प्रमुख माना है। सिद्धसेन दिवाकर का स्थान जैन इतिहास में बहुत ऊंचा है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय उनके प्रति एक ही भाव से श्रद्धा रखते हैं। उनके दो स्तोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। कल्याणमंदिर स्तोत्र और वर्धमान द्वात्रिंशिका स्तोत्र।

यह सम्राट विक्रमादित्य के गुरु और समकालीन माने गये हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय नैयायिक के अनुसार महावीर भगवान के निर्वाण के 470 वर्ष व्यतीत होने पर सम्राट विक्रमादित्य को जैनधर्म की दीक्षा दी गई थी जिसके अनुसार विक्रम संवत् 1 होता है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने सिद्धसेन दिवाकर को ही विक्रम के नवरत्नों में से क्षपणक होना सिद्ध किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर का प्रादुर्भाव उनका काल महावीर भगवान के निर्वाण के अनन्तर 714 से 798 वर्ष तक रहा है। इस हिसाब से उनका काल ईस्वी सन् 187 से 271 तक रहा है। श्री सिद्धसेन के गुरु का नाम वृद्धवादिसूरि बताया जाता है जो सिंहगिरि और पालिक के समकालीन थे।

वैबर ने अपने "इंडिश स्टूडीन" में विक्रमादित्य और सिद्धसेन दिदवाकर की कई कथाओं और किंवदंतियों का हाल बतलाया है। कहा जाता है कि जैनधर्म की दीक्षा लेने पर विक्रमादित्य का नाम 'कुमुदचन्द्र' हो गया था। जैकोबी का विचार है कि "कल्याण मंदिर स्तोत्र" के काव्यकार ने कुमुदचन्द्र का नाम दिये जाने की कथा बिना प्रमाण लिख दी है। जैकोबी के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर का काल 670 ईस्वी के लगभग है। श्री शतीषचन्द्र विद्याभूषण ने सिद्धसेन दिवाकर का काल सन् 480 से 550 ईस्वी तक माना है।

डॉ.ज्योतिप्रसाद जैन अनेकानेक प्रमाणों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सद्धिसेन दिवाकर का समय 550-600 ईसवी सन् है।[23]

(9) आचार्य मानतुंग : आचर्य मानतुंग[24] के विषय में डॉ.नैमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि मनुष्य के मन को सांसारिक ऐश्वर्यों, भौतिक सुखों एवं ऐन्द्रियिक भोगों से विमुख कर बुद्धि मार्ग और भगवद् भक्ति में लीन करने के लिये जैन कवि मानतुंग के मयूर और बाण के समान स्तोत्र काव्य का प्रणयन किया है। इनका भक्तामर स्तोत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से समादृत होता है कि कवि की यह रचना इतनी लोकप्रिय रही है जिसे इसके

प्रत्येक अंतिम चरण को लेकर समस्या पूर्त्यात्मक स्तोत्र काव्य लिखे जाते रहे हैं। इस स्तोत्र की कई समस्या पूर्तियां उपलब्ध है।

आचार्य कवि मानतुंग के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में अनेक विरोधी विचारधारायें प्रचिलत हैं। भट्टारक सकलचन्द्र के शिष्य ब्रह्मचारी रायमल्ल कृत 'भक्तामरवृत्ति' में जो कि विक्रम संवत् 1667 में समाप्त हुई है, लिखा है कि धाराधीश भोजराज की सभा में कालिदास, भारवि, माघ आदि कवि रहते थे। मानतुंग ने 48 सांकलों को तोड़कर जैनधर्म की प्रभावना की तथा राजा भोज को जैनधर्म का श्रद्धालु बनाया। दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषण कृत "भक्तामर चरित" में है। इसमें भोज, भर्तृहरि, शुभचन्द्र, कालिदास, धनञ्जय, वररूचि और मानतुंग को समकालीन लिखा है। इस आख्यान में द्विसंधान महाकाव्य के रचयिता धनञ्जय को मानतुंग का शिष्य भी बताया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनकी समसामयिकता सर्वथा असिद्ध और असंभव है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने क्रियाकलाप की टीका की उत्थानिका में लिखा है कि मानतुंग श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्य ने उनको महाव्याधि से मुक्त कर दिया। इससे उन्होंने दिगम्बर मार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा भगवन्! अब मैं क्या करूं? आचार्य ने आज्ञा दी कि परमात्मा के गुणों का स्तोत्र बनाओ। फलतः आदेशानुसार 'भक्तामरस्तोत्र' का प्रणयन किया गया।

विक्रम संवत् 1334 के श्वेताम्बराचार्य प्रभाचन्द्रसूरि कृत प्रभावक चरित में मानतुंग के सम्बन्ध में लिखा है कि ये काशी के निवासी धनदेव सेठ के पुत्र थे। पहले इन्होंने एक दिगम्बर मुनि से दीक्षा ली और इनका नाम चारूकीर्ति महाकीर्ति रखा गया। अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनुयायिनी श्राविका ने उनके कमण्डलु के जल में त्रसजीव बतलाये जिससे उन्हें दिगम्बराचार्य से विरक्ति हो गयी और जितसिंह नामक श्वेताम्बराचार्य के निकट दीक्षित होकर श्वेताम्बर साधु हो गये और उसी अवस्था में भक्तामर स्तोत्र की रचना की।

वि.सं.1369 में मेरूतुंग कृत प्रबन्धचिन्तामणि में भी उल्लेख है। मानतुंग के सम्बन्ध में एक इति वृत्त श्वेताम्बराचार्य गुणाकर का भी उपलब्ध है। उन्होंने भक्तामर स्तोत्र वृत्ति में जिसकी रचना वि.सं.1426 में हुई, प्रभावकचरित के समान ही मयूर और बाण को श्वसुर एवं जामाता बताया है तथा इनके द्वारा रचित सूर्यशतक और चण्डीशतक का निर्देश किया गया है। राजा का नाम वृद्ध भोज है जिसकी सभा में मानतुंग उपस्थित हुए थे।

कीथ ने मानतुंग को बाण का समकालीन अनुमान किया है।[25] प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं.गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने सिरोही का इतिहास नामक

ग्रन्थ में मानतुंग को हर्ष का समकालीन माना है। श्रीहर्ष का राज्याभिषेक ई.सन् 606 (वि.सं.663) में हुआ।

भक्तामर स्तोत्र के प्रारम्भ करने की शैली पुष्पदंत के शिवमहिम्न स्तोत्र से प्रायः मिलती है। प्रातिहार्य एवं वैभव वर्णन में भक्तामर पर पात्र केसरी स्तोत्र का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। अतएव मानतुंग का समय 7वीं सदी है। यह सदी मयूर, बाणभट्ट आदि के चमत्कारी स्तोत्रों की रचना के लिये प्रसिद्ध भी है।

भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि ईस्वी सन् 5वीं शताब्दी में मंत्र तंत्र का प्रचार विशेष रूप से हुआ है। 5वीं शताब्दी में महायान और कापालिकों ने बड़े-बड़े चमत्कार की बातें कहना आरम्भ की। अतएव यह क्लिष्ट कल्पना न होगी कि उस चमत्कार के युग में आचार्य मानतुंग ने भी भक्तामर स्तोत्र की रचना की हो। अतएव मानतुंग का समय 7वीं शताब्दी उत्तरार्ध है।

(10) जिनसेन : आचार्य जिनसेन[26] पुन्नाट सम्प्रदाय आचार्य परम्परा में हुए। पुन्नाट कर्नाटक का ही पुराना नाम है, जिसको हरिषेण ने दक्षिणापथ नाम दिया है। ये जिनसेन आदिपुराण के कर्त्ता श्रावक धर्म के अनुयायी एवं पंचस्तुपान्वय के जिनसेन से भिन्न थे। ये कीर्तिषेण के शिष्य थे।

जिनसेन का हरिवंश इतिहास प्रधान चरित काव्य श्रेणी का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना वर्धमानपुर (धार जिले का बदनावर) में हुई थी। इसका रचना काल लगभग नवम् शताब्दी के मध्य बैठता है। दिगम्बरीय सम्प्रदाय के संस्कृत कथासंग्रहों में इसका तीसरा स्थान है।

(11) हरिषेण : पुन्नाट संघ के अनुयायियों में एक दूसरे आचार्य हरिषेण हुए। इनकी गुरु परम्परा मौनी भट्टारक श्री हरिषेण, भरतसेन, हरिषेण इस प्रकार बनती है। कथाकोश की रचना इन्होंने वर्धमानपुर या बढ़वाण (धार जिले का बदनावर) में विनायकपाल राजा के राज्यकाल में की। विनायकपाल प्रतिहार वंश का राजा था, जिसकी राजधानी कन्नौज थी। इसका एक 988 वि. का दानपत्र मिला है। इसके एक वर्ष बाद अर्थात् 989 वि. (853 शक सं.) में कथाकोश की रचना हुई। हरिषेण का कथाकोश साढ़े बारह हजार श्लोक परिमाण का वृहद ग्रन्थ है।[27]

(12) आचार्य देवसेन : आचार्य वसुनंदि के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ विवाद है। कुछ विद्वानों के मत से भावसंग्रह के रचयिता विमलसेनगणि के शिष्य देवसेन 'लघुनयचक्र' के रचयिता देवसेन से भिन्न थे और उन्होंने उक्त ग्रन्थ के अतिरिक्त 'सुलोचणाचरित' नामक एक अपभ्रंश ग्रन्थ भी लिखा, किन्तु इन दो देवसेन व्यक्तियों के संबंध में जब तक प्रामाणिक सामग्री नहीं मिलती है तब तक

उन्हें में मानना उचित नहीं जान पड़ता है।[28]

देवसेन तथा पद्मनंदि कुंदकुंद अन्वय के थे। उनका काल दशवी शताब्दी विक्रमी के लगभग था क्योंकि दर्शनसार की पुष्पिका में उन्होंने लिखा है कि धारा नगरी में निवास करते हुए पार्श्वनाथ के मंदिर में मार्ग सुदि 10 वि.सं. 990 को उन्होंने अपना उक्त ग्रन्थ समाप्त किया। आराधनासार और तत्वसार भी उन्होंने ही लिखे। इन्होंने और भी अन्य ग्रन्थों की रचना की है जिनका परिचय यथास्थान दिया जायेगा।

(13) आचार्य महासेन : आचार्य महासेन लाड़बागड़ के पूर्णचन्द्र थे। आचार्य जयसेन के प्रशिष्य और गुणाकरसेन सूरि के शिष्य थे। सम्भव है। आचार्य महासेन के गुरुजनों के विहार से धारानगरी पवित्र हुई हो। महासेन सिद्धान्तज्ञवादी वाग्मी, कवि और शब्द ब्रह्म के मिश्रित धाम थे। यशस्वियों द्वारा सम्मान्य सज्जनों में अग्रणी और पापरहित थे। यह परमार वंशी राजा मुंज द्वारा पूजित थे। सम्यक्दर्शन, ज्ञान चारित्र और तप की सीमा स्वरूप थे और भव्यरूपी कमलों को विकसित करने वाले बान्धक सूर्य थे। तथा सिन्धुराज के महामात्य श्रीपर्पट के द्वारा जिनके चरण कमल पूजे जाते थे और उन्हीं के अनुरोधवश 'प्रद्युम्नचरित' की रचना विक्रम की 11वीं शताब्दी के मध्यभाग में हुई है।

महासेनसूरि का समय विक्रम की 11वीं शताब्दी का मध्यभाग है, क्योंकि धाराधिप मुंज के दो दान पत्र वि.सं.1031 और वि.सं. 1036 के प्राप्त हुए है। आचार्य अमितगति द्वितीय ने इन्हीं मुंजदेव के राज्यकाल में वि.सं.1050 पौष शुक्ला मंचमी के दिन 'सुभाषितरत्नसन्दोह' की रचना की थी। जैसा कि उस ग्रन्थ के अंतिम प्रशस्तिपद से प्रकट होता है।

इससे मुंज का राज्य सं.1031 से 1050 तक तो सुनिश्चित ही है और कितने समय तक रहा यह नहीं कहा जा सकता। श्री नंदलाल लोढ़ा ने मुंज का समय वि.सं.1030 से 1054 तक का बताया है।[30] पर यह ज्ञात होता है कि तेलपदेव ने सं.1050 या 1054 में मध्यवर्ती समय में मुंज का वध किया था। चूंकि महासेन मुंज द्वारा पूजित थे और वे संभवतः वहां ही निवास करते थे अतएव उक्त ग्रन्थ उन्हीं के राज्यकाल में रचा गया।

मुंज की मृत्यु के बाद कुछ समय राज्य शासन राजा सिंधुल ने, जो कि सुप्रसिद्ध राजा भोज के पिता थे, किया। उनकी मृत्यु गुजरात नरेश सोलंकी राजा चामुण्डराय के साथ युद्ध में वि.सं.1066 से कुछ पूर्व हुई थी। महासेन ने अपनी कृति में कोई रचना काल नहीं दिया और न उनकी अन्य रचनाओं का ही पता चलता है।

(14) आचार्य अमितगति (द्वितीय) : आचार्य अमितगति द्वितीय माथुरसंघ के आचार्य थे जो माधवसेनसूरि के शिष्य और नेमिषेण के प्रशिष्य थे। ये अमितगति वाक्पतिराज मुंज की सभा के रत्न थे। ये बहुश्रुत विद्वान् थे। इनकी रचनाएं विविध विषयों पर उपलब्ध हैं। इनकी रचनाओं में एक पंचसंग्रह वि.सं.1073 में मसूतिकापुर वर्तमान मसूदविलोदा में जो कि धारा के समीप है, बनाया था। इन सब उल्लेखों से सुनिश्चित है कि अमितगति धारा नगरी और उसके आसपास के स्थानों में रहे थे। उन्होंने प्रायः अपनी सभी रचनाएं धारा में या उसके समीपवर्ती नगर में प्रस्तुत की। बहुत सम्भव है कि आचार्य अमितगति के गुरुजन धारा या उसके समीपवर्ती स्थानों में रहे हों। अमितगति ने सं.1050 से 1073 तक 23 वर्ष के काल में अनेक ग्रन्थों की रचना वहां की थी।[31]

कीथ[32] ने अमितगति के विषय में लिखा है कि अमितगति क्षेमेन्द्र से अर्धशताब्दी पहले हुए थे। उनके सुभाषितरत्न संदोह की रचना 994 में हुई थी और उनकी धर्मपरीक्षा बीस वर्ष अनन्तर लिखी गई। सुभाषितरत्न संदोह में बत्तीस परिच्छेद (निरूपण) है जिनमें से प्रत्येक में साधारण एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है।

अमितगति बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान थे। जैनधर्म के अतिरिक्त संस्कृत के क्षेत्र में भी उनका ऊंचा स्थान माना जाता है। वि.सं. 953 में माथुरों के गुरु रामसेन ने काष्ठासंघ की एक शाखा मथुरा में माथुर संघ का निर्माण किया गया था। अमितगति इसी माथुर संघ के अनुयायी थे। अमितगति की गुरु परम्परा-वीरसेन-देवसेन-अमितगति (प्रथम)-नेमिषेण, माधवषेण, अमितगति और शिष्य परम्परा-शांतिषेण अमरसेन-श्रीषेण-चन्द्रकीर्ति, अमरकीर्ति इस प्रकार रही है।[33]

अमितगति मालव के परमारवंशी धारा नरेश मुंज और सिंधु के समकालीन थे। मुंज का दूसरा नाम वाक्पतिराज था, जो स्वयं भी विद्वान् एवं विद्वानों का आदर करनेवाला था। अमितगति का स्थिति काल 11वीं शताब्दी विक्रमी का पूर्वार्द्ध जान पड़ता है।

(15) मुनिश्रीचन्द्र : ये लाड़ बागड़ संघ और बलात्कार गण के आचार्य श्रीनन्दी के शिष्य थे। वे धारा के निवासी थे। इन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना धारा में रहकर ही की है जो महत्त्वपूर्ण है। इनके द्वारा रचित टीकाओं की प्रशस्तियों में सागरसेन और प्रवचनसेन नाम के दो सैद्धान्तिक विद्वानों का उल्लेख आता है ये दोनों सैद्धान्तिक भी धारा के ही निवासी थे। इससे विदित होता है कि उस समय धारा में अनेक जैन विद्वान् और मुनि निवास करते थे।[34]

(16) आचार्य माणिकक्यनंदी : आचार्य माणिक्यनंदी[35] दर्शनशास्त्र के

तलदृष्टा विद्वान् और त्रैलोक्यनंदी के शिष्य थे। ये धारा के निवासी थे और वहां दर्शनशास्त्र का अध्यापन करते थे। इनके अनेक शिष्य थे।

माणिक्यनन्दी के अनेक विद्या शिष्यों में से यहां सिर्फ दो शिष्यों का ही परिचय ज्ञात हो सका है। उनमें नयनंदी उनके प्रथम विद्या शिष्य थे। उन्होंने अपने "सकल विधि विधान" नामक काव्य में माणिक्यनंदी को महापंडित बतलाने के साथ-साथ उन्हें प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप प्रमाण जल से भरे और नय रूप चंचल तरंग समूह के गंभीर उत्तम, सप्तभंग रूप कल्लोल माला से विभूषित जिनशासन रूप निर्मल सरोवर से युक्त और पंडितों का चूड़ामणि प्रकट किया है।[36] नयनन्दी ने अपनी पुस्तक 'सुदर्शनचरित' में अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है यथा-

पद्मनंदी-विष्णुनंदी-विश्वनंदी-वृषभनंदी-रामनंदी और त्रैलोक्यनंदी ये सब विद्वान् माणिक्यनंदी से पूर्ववर्ती हैं। सम्भवतः इन नन्यन्त नामवाले विद्वानों की परम्परा धारा या धारा के समीपवर्ती स्थानों में रही हो, क्योंकि माणिक्यनंदी और प्रभाचन्द्र तो धारा के ही निवासी थे और माणिक्यनंदी के गुरु प्रगुरु भी धारा के निवासी रहे हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

(17) नयनंदी : जैसा ऊपर उल्लेख हो चुका है, नयनंदी आचार्य माणिक्यनंदी के शिष्य थे। स्वयं नयनंदी ने अपने आपको माणिक्यनंदी का प्रथम विद्या शिष्य लिखा है।

मुंज के बाद जब धारा में राजा भोज का राज हुआ तो उसके राजकाल में धारा का उत्कर्ष अपनी चरमसीमा पर पहुंच गया था। चूंकि राजा भोज स्वयं विद्याव्यसनी वीर प्रतापी राजा था, उस समय धारा का सरस्वतीसदन खूब प्रसिद्ध हो रहा था। अनेक देश-विदेशों के विद्यार्थी उसमें शिक्षा पा रहे थे। अनेक विद्वान् और कवि वहां रहते थे।

नयनंदी के दीक्षा गुरु कौन थे और कहां के निवासी थे, उनका जीवन परिचय क्या है? यह ज्ञात नहीं होता।[37] ये काव्य शास्त्र में विख्यात थे। साथ ही प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के विशिष्ट विद्वान् थे। छन्दःशास्त्र के भी ये परिज्ञानी थे।

नयनंदी की दूसरी कृति 'सकलविहिविहाण' काव्य है। इसकी प्रशस्ति इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। उसमें कवि ने ग्रन्थ बनाने में प्रेरक हरिसिंह मुनि का उल्लेख करते हुए अपने से पूर्ववर्ती जैन जैनेत्तर और कुछ समसामयिक विद्वानो का भी उल्लेख किया है जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। समसामयिक विद्वानों में श्रीचन्द्र, प्रभाचन्द्र और श्रीकुमार का, जिन्हें सरस्वतीकुमार कहते थे का उल्लेख है। कविवर नयनंदी ने राजा भोज,

हरिसिंह आदि के नामोल्लेख के साथ-साथ बच्छराज और प्रभु ईश्वर का उल्लेख किया है और उन्हें विक्रमादित्य का मांडलिक प्रकट किया है। कवि ने वल्लभराज का उल्लेख किया है जिसने दुर्लभ प्रतिमाओं का निर्माण कराया था और जहां रामनंदी, जयकीर्ति और महाकीर्ति प्रधान थे। अतः नयनंदी के उल्लेख इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

(19) प्रभाचन्द्र : प्रभाचन्द्र[38] माणिक्यनंदी के अन्य शिष्यों में प्रमुख रहे हैं। वे उनके परीक्षामुख नामक सूत्र ग्रन्थ के कुशल टीकाकार भी हैं और दर्शन, साहित्य के अतिरिक्त वे सिद्धान्त के भी विद्वान् थे। आचार्य प्रभाचन्द्र ने उक्त धारा नगरी में रहते हुए केवल दर्शनशास्त्र का ही अध्ययन नहीं किया, प्रत्युत धाराधिप भोज के द्वारा प्रतिष्ठा पाकर अपनी विद्वत्ता का विकास भी किया। साथ ही विशाल दार्शनिक ग्रन्थों के निर्माण के साथ अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुख टीका) नामक विशाल दार्शनिक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध राजा भोज के राजकाल में ही रचा गया। कुछ ग्रन्थ राजा जयसिंहदेव के राजकाल में रचे गये। कुछ ग्रन्थों के विषय में यह विदित नहीं होता है कि किसके राजकाल में रचे गये?

ये प्रभाचन्द्र वही ज्ञात होते हैं जो श्रवण बेलगोला के शिलालेख नं.4 के अुनसार मूल संघान्तर्गत नंदीगण के भेद रूप देशीयगण के गोल्लाचार्य के शिष्य एक अविद्धकर्णकौमारव्रति पद्मनंदी सैद्धांतिक का उल्लेख है, जो कर्ण संस्कार होने से पूर्व ही दीक्षित हो गये थे, उनके शिष्य और कुलभूषण के सधर्मा एक प्रभाचन्द्र का उल्लेख पाया जाता है। जिसमें कुलभूषण को चरित्रसागर और सिद्धान्तसमुद्र के पारागामी बतलाया गया है, और प्रभाचन्द्र को शब्दाम्मोहरूहभास्कर तथा प्रथिततर्क ग्रंथकार प्रकट किया है। इस शिलालेख में मुनि कुलभूषण की शिष्य परम्परा का उल्लेख निहित है यथा-

अविद्धकर्णादिक पद्मनंदी सैद्धांतिकारव्यो जनि यस्म लोके।
कौमारदेवव्रतिताप्रसिसिद्धर्जीयास्तु सज्ज्ञाननिधिः सधीरः।।
शब्दाम्भोरूहभास्करः प्रथित तर्क ग्रंथकारःप्रभाचन्द्राख्योमुनिराज
पंडितप्रवररू श्री श्रीकुन्दकुन्दान्वयः।
तस्य श्रीकुलभूषणाख्यसुमुने शिष्यां विनेयस्तुतः।
सद्वृत्तः कुलचन्द्रदेवमुनिपस्सिद्धान्त विद्यानिधिः।।

श्रवण बेलगोल के 55वें शिलालेख में मूलसंघ देशीयगण के देवेन्द्र सैद्धान्तिक के शिष्य चतुर्मुख देव के शिष्य गोपनंदी और इन्हीं गोपनंदी के सधर्मा प्रभाचन्द्र का उल्लेख भी किया गया है। जो प्रभाचन्द्र धाराधीश्वर राजा भोज द्वारा पूजित

थे और न्यायरूप कमल समूह को विकसित करने वाले दो-दो मणि (भास्कर) सदृश थे और पंडितरूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य तथा रूद्रवादि दिग्गज विद्वानों को वश में करने के लिये अंकुश के समान थे तथा चतुर्मुखी देव के शिष्य थे।

दोनों ही शिलालेखों में उल्लिखित प्रभाचन्द्र एक ही विद्वान् जान पड़ते हैं। हां द्वितीय लेख 55 में चतुर्मुख देव का नाम नया जरूर है, पर यह सम्भव प्रतीत होता है कि प्रभाचन्द्र के दक्षिण देश से धारा में आने के पश्चात् देशीयगण के विद्वान् चतुर्मुख देव भी उनके गुरु रहे हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि गुरु भी तो कई प्रकार के होते हैं, दीक्षा गुरु-विद्या गुरु आदि। एक-एक विद्वान् के कई-कई गुरु और कई-कई शिष्य होते थे। अतएव चतुर्मुख देव भी प्रभाचन्द्र के किसी विषय के गुरु रहे हों, और इसलिये वे उन्हें समादर की दृष्टि से देखते हों तो कोई आपत्ति की बात नहीं।

अब रही समय की बात सो ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड को राजा भोज के राज्यकाल में बनाया है। राजा भोज का राजकाल सं.1070से 1110 तक था। उसके राजकाल के दो दानपत्र सं.1076 और सं.1079 के मिले हैं।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने देवनंदी की तत्वार्थवृत्ति के विषमपदों का एक विवरणात्मक टिप्पण लिखा है। उसके प्रारम्भ में अमितगति के संस्कृत पंचसंग्रह का निम्नांकित पद्य उद्धृत किया हैः-

वर्गः शक्ति समूहो णोरणूनां कर्णनोदितां
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकं स्पर्धकाप हैः।।

अमितगति ने अपना यह पंचसंग्रह मसूतिकापुर में जो वर्तमान में मसूदविलोद ग्राम के नाम से प्रसिद्ध है, वि.सं.1073 में बनाकर समाप्त किया है। अमितगति धाराधिप मुंज के सभारत्न भी थे। इससे स्पष्ट होता है कि प्रभाचन्द्र ने अपना उक्त टिप्पण वि.सं.1073 के बाद बनाया है, यह बात अभी विचारणीय है।

न्यायविनिश्चय के विवरण के कर्त्ता आचार्य वादिराज ने अपना पार्श्वनाथचरित्त शक संवत् 947 (वि.सं.1082) में बनाकर समाप्त किया। यदि राजा भोज के प्रारम्भिक राजकाल में प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड बनाया होता तो वादिराज उसका उल्लेख अवश्य ही करता। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय तक प्रमेयकमलमार्तण्ड की रचना नहीं हुई थी। हां, सुदर्शनचरित के कर्त्ता मुनि नयनंदी ने, जो माणिक्यनंदी के प्रथम विद्या शिष्य थे और प्रभाचन्द्र के समकालीन गुरुभाई भी थे, अपना 'सुदर्शनचरित' विक्रम संवत् 1100 में बनाकार समाप्त

किया था। उसके बाद सकलविधि विधान नाम का काव्य ग्रन्थ बनाया, जिससे पूर्ववर्ती और समकालीन अनेक विद्वानों का उल्लेख करते हुए प्रभाचन्द्र का नामोल्लेख किया है, परन्तु उसमें उनकी रचनाओं का कोई उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड की रचना सं.1100 के बाद किसी समय हुई है और न्याय कुमुदचन्द्र सं.1112 के बाद की रचना है, क्योंकि जयसिंह राजा भोज के (सं.1110) बाद किसी समय उत्तराधिकारी हुआ है। न्याय कुमुदचन्द्र जयसिंह के राजकाल में रचा गया है। इससे प्रभाचन्द्र का समय विक्रम की 11वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध 12वीं शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिये।[39]

(19) आशाधर : पंडित आशाधर संस्कृत साहित्य के अपारदर्शी विद्वान् थे। ये मांडलगढ़ के मूल निवासी थे किन्तु मेवाड़ पर मुसलमान बादशाह शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमणों से त्रस्त होकर मालवा की राजधानी धारानगरी में अपने स्वयं एवं परिवार की रक्षा के निमित्त अन्य लोगों के साथ आकर बस गये थे। पं.आशाधर बघेरवाल जाति के श्रावक थे। इनके पिता का नाम सल्लक्षण एवं माता का नाम श्रीरत्नी था। सरस्वती नामक इनकी पत्नी थी जो बहुत सुशील एवं सुशिक्षिता थी। इनके एक पुत्र भी था, जिसका नाम छाहड़ था। इनका जन्म किस संवत में हुआ यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इनका जन्म वि.सं.1234-35 के लगभग अनुमानित किया जाता है।[40]

धारानगरी उस समय साहित्य एवं संस्कृति का केन्द्र थी इसीलिये उन्होंने भी वहीं व्याकरण एवं न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। धरानगरी के साहित्य एवं संस्कृति का परिज्ञान एवं नलकच्छपुर (नालछा) में साधु जीवन प्राप्त हुआ था। नालछा का नेमिनाथ चैत्यालय उनकी साहित्यिक गतिविधियों को केन्द्र बन गया। वे लगभग 35 वर्ष तक नालछा में ही रहे और वही एक निष्ठा से साहित्य सृजन करते रहे।[41]

पंडित आशाधर बहुश्रुत और बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान हुए। काव्य अलंकार, व्याकरण, कोश दर्शन, धर्म और वैद्यक आदि अनेक विषयों पर उन्होंने ग्रन्थ लिखे। वे धर्म के बड़े उदार थे।[42]

इनमें जातीयगत संकीर्णता का अभाव था। अतः बघेरवाल जाति में उत्पन्न होने पर भी समूचे जैनधर्म के उत्थान में अपने जीवन को अर्पण कर दिया। इनका कुल राज-सम्मान प्राप्त था। अतः ये चाहते तो किसी अच्च पद पर आसीन होकर ऐश-आराम की जिन्दगी गुजारते किन्तु इन्होंने उस समय फैले हुए अज्ञान को दूर करने के लिये नालछा के नेमि चैत्यालय में एक निष्ठता के साथ

रहकर करीब 35 वर्ष गुजारे। यहीं पर ही वे स्वयं अध्ययन करते और अध्यापन कार्य के साथ-साथ ग्रन्थ रचना भी करते रहे थे।[43]

पं.आशाधर के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में पं.परमानन्द जैन शास्त्री लिखते हैं कि सन् 1192 में शाहबुद्दीन गौरी ने पृथ्वीराज को कैद कर दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया और अजमेर पर अधिकार कर लिया। तब आशाधर के पिता वगैरह मांडलगढ़ छोड़कर धारा में आये होंगे। उस समय आशाधर की अवस्था अधिक नहीं थी। सम्भवतः वे किशोर ही रहे होंगे, क्योंकि उन्होने व्याकरण और न्यायशास्त्र धारा में आकर ही पंडित महावीर से पढ़े थे।[44]

मालव नरेश अर्जुनवर्मा का भाद्रपद सुदि 15 बुधवार सं.1272 का एक दानपत्र मिला है, उसके अन्त में लिखा है, "रचितनंदी महासंधि-राजा सलखणसंमतेनराजगुरुणामदनेन।" यह दान-पत्र महासंधि विग्रहिक मंत्री राजा सलखण की सम्मति से राजगुरु मदन ने रचा। इन्हीं के राज में अशाधार नालछे में रहे थे। राजगुरु मदन भी वही है जिन्हें आशाधर ने काव्यशास्त्र पढ़ाया था। इससे ज्ञात होता है कि उक्त राजा सलखण ही सम्भव है कि आशाधर के पिता सलखण हो। जब आशाधर का परिवार धार में आया था उस समय परराष्ट्र मंत्री विल्हण कवीश थे। सम्भव है उनके बाद अपनी योग्यता के कारण सलखण ने उक्तपद प्राप्त कर लिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।[45]

आशाधरजी धारा से सलखणपुर सं.1282 के आसपास गये थे और वे उस समय गृहस्थाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित थे। क्योंकि उन्होंने वहां निर्मित 'रत्नत्रयविधि' में अपने को "गृहस्थाचार्य कुञ्जर" बतलाया है। उस समय वे पाक्षिक श्रावक के व्रतों का अनुष्ठान कर रहे थे। वहां परमारवंशी देवपाल के राज्य में मल्लह के पुत्र नागदेव की धर्मपत्नी के लिये, जो उक्त राज्य में चुंगी व टैक्स विभाग में कार्यरत था, संवत् 1282 में संस्कृत गद्य में 'रत्नत्रयविधि' नाम की कथा लिखी थी। रचना संवत् की दृष्टि से यह सबसे पुरानी जान पड़ती है और बाद को वे जैनधर्म के प्रचार की दृष्टि से नलकच्छपुर में रहने लगे थे।[46]

(20) कवि दामोदर : वि.संवत् 1287 में दामोदर नाम के एक विद्वान् कवि गुर्जर देश से चलकर मालव देश में आये और वहां के सलखणपुर को देखकर संतुष्ट हुए। उन्होंने वीर जिनके चरणों में नमस्कार किया और स्तुति की। उस समय सलखणपुर में अमलभद्र नाम के संघवी रहते थे, जो काम के बाणों को विनष्ट करने के लिये तपश्चरण करते थे। अष्टमदों के विनाश करने में वीर और बाईस परीषहों के सहने में धीर थे। कर्म शत्रुओं का नाश करने वाले सूर्य थे। कषाय और तीन शल्यों के विनाशक धीमन्त, सन्त और संयम के निधान थे।

उसी सलखणपुर में मल्ह के पुत्र नागदेव रहते थे, जो निरन्तर पुण्यार्जन करते थे। वहीं संयमी गुणी और सुशील रामचन्द्र रहते थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय उस नगर में अच्छे धर्मात्मा लोगों का निवास था। वहीं पर खण्डेलवाल कुलभूषण विषयविरक्त, भव्यजनबांधव, केशव के पुत्र इन्दुक या इन्द्रचन्द्र रहते थे। जो जिनधर्म के धारक थे और जिनभक्ति में तत्पर तथा संसार से उदासीन रहते थे। उन्होंने नेमिजिन की स्तुति कर भव्य नागदेव को शुभाषीश दी। तब नागदेव ने कहा कि राज्य परिकर से क्या, मनहारी हय गज से क्या, जबकि माया मद, पुत्र, कलत्र, मित्र सभी इन्द्रधनुष के समान अनित्य है। निर्मल चित्त भव्यों के मित्र नागदेव ने कहा, हे! दामोदर कवि ऐसा काम कीजिये जिससे धर्म में न हानि हो। मुझे 'नेमिजिनचरित्र' बनाकर दीजिये, जिससे गंभीर भव से आज तरजाऊं और मेरा जन्म सफल हो। तब कवि ने नागदेव के अुनरोध से नेमिजिन का चरित्र देवपाल के राज्य में बनाया।

देवपाल मालवे का पारमारवंशी राजा था और महाकुमार हरिशचन्द्र वर्मा का जो छोटी शाखा के वेराधर थे, द्वितीय पुत्र था। क्योंकि अर्जुनवर्मा के कोई सन्तान नहीं थी। अतः उस गद्दी का अधिकार इन्हें ही प्राप्त हुआ था। इसका अपर नाम साहसमल्ल था। इसके समय के 3 शिलालेख और एक दानपत्र मिला है। एक विक्रम संवत् 1272 सन् 1218 का हरसोड़ा गांव से और दो लेख ग्वालियर राज्य से मिले हैं जिनमें एक विक्रम संवत् 1286 और दूसरा वि.सं.1289 का है। मांधाता से वि.सं.1292 भादो सुदि 15 सन् 1235 का 29 अगस्त का दानपत्र भी मिला है। यह उसका अंतिम दानपत्र जान पड़ता है, क्योंकि जब सं.1292 सन् 1235 में आशाधर ने त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र बनाया उस समय उनके पुत्र जैतुंगिदेव का राज था। संभव है उसी वर्ष देवपाल की किसी समय मृत्यु हुई हो और इसलिये जब आशाधर ने सागरधर्मामृत सटीक वि.सं.1296 में नलकच्छपुर के नेमिनाथ चैत्यालय में बनाया, उसमें राजा का कोई उल्लेख नहीं किया, क्योंकि उस समय जैतुंगिदेव का राज था।

कवि दामोदर ने सलखणपुर के रहते हुए पृथ्वी पर के पुत्र रामचन्द्र के उपदेश एवं आदेश से तथा मल्ह पुत्र नागदेव के अनुरोध से नेमिनाथ चरित्र वि.सं.1287 में परमारवंशी राजा देवपाल के राज में बनाकर समाप्त किया था। कवि का वंश मेड़ेत्तम था और पिता का नाम कविमाल्हण था, उसने दल्ह का चरित्र बनाया था। कवि के ज्येष्ठ भ्राता का नाम जिनदेव था। उस समय उक्त नगर में मुनि कमलभद्र भी विद्यमान थे।

मालवा के प्रमुख जैनाचार्यों के अध्ययन से हम अन्त में इस निष्कर्ष पर

पहुंचते हैं कि मालवा में जो जैनाचार्य हुए हैं वे न केवल धार्मिक साधु ही थे, वरन् उनमें ऐसे भी आचार्य हो चुके हैं, जिन्होंने जैन आगम का सामान्य जनता के लिये अध्ययन सरल हो सके, इस हेतु उनको अलग-अलग भागों में विभक्त कर दिया। मालवा के जैनाचार्य योग्यतम आचार्य रहे हैं तथा अनेक आचार्य ऐसे भी रहे हैं जो वर्षों तक युगप्रधान आचार्य के पद को सुशोभित करते रहे थे। इसके अतिरिक्त जैनधर्म के आचार्यों के महत्त्व के अतिरिक्त एक सबसे बड़ी देन इन आचार्यों की साहित्य के विभिन्न अंगों की है। आज भी इन आचार्यों के साहित्य का अध्ययन विद्वानों के द्वारा किया जा रहा है। कई आचार्यों द्वारा लिखी गई पुस्तकों का उल्लेख तो मिलता है किन्तु उनकी प्रतियां उपलब्ध नहीं है। हो सकता है कि भविष्य में ये कृतियां मिल जाय। अतः समग्र रूप से मालवा के जैनाचार्य न केवल जैनधर्म के लिये महत्त्वपूर्ण हैं, वरन पूरे भारतीय साहित्य तथा इतिहास के लिये भी महत्त्वपूर्ण रहे हैं।

संदर्भ सूची

1 जैन परम्परा नो इतिहास, भाग-1, लो, पृष्ठ 17-18
2 संस्कृति केन्द्र उज्जयिनी, पृष्ठ 112-14 अन्यथा संदर्भ
3 श्री तपागच्छ पट्टावली, प्रथम भाग, पृ.43
4 श्री पट्टावली पराग संग्रह, पृष्ठ 135
5 श्री तपागच्छ पट्टावली, प्रथम भाग, पृष्ठ 44 से 46
6 वही, पृष्ठ 68
7 वही, पृष्ठ 68
8 श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ 453
9 आर्यरक्षितसूरि का परिचय, श्रीमद् राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रंथ के आधार पर है।
10 श्री पट्टावली पराग संग्रह, पृष्ठ 137
11 पट्टावली समुच्चय, प्रथम भाग, पृष्ठ 23
12 मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 677
13 वही, पृष्ठ 683
14 ऋषिमंडल प्रकरण श्लोक 34, उपदेशमाला सटीक प.208, परिशिष्ट पर्व सर्ग 12, मुनि हजारीमल स्मृति ग्रंथ से उद्धृत
15 मुनि हजारीमल स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 684
16 वही, पृष्ठ 685
17 पट्टावली पराग संग्रह, पृष्ठ 137
18 संस्कृति केन्द्र उज्जयिनी, पृष्ठ 29-30
19 स्व.बाबूश्री बहादुरसिंहजी सिंघी स्मृति ग्रंथ, कि.सं., पृष्ठ 10, 11, 12
20 The Jain Sources of the History of Ancient Indian, Dr. J.P.Jain, Page 150-51.
21 संस्कृति केन्द्र, उज्जयिनी, पृष्ठ 117-18
22 The Jain sources of the History of Ancient India, Page 164.
23 अनेकांत, वर्ष 18, किरण 6, पृष्ठ 242, सं.246 के आधार पर अन्यथा संदर्भ दिये जायेंगे।
24 History of Sanskrit Literature, Page 241-45
25 The Jain sources of the History of Ancient India, Page 195 & onward.

26 संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 351-52
27 वही, पृष्ठ 351-52
28 गुरु गोपालदास वैरया स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 544-45
29 श्री मांडवगढ़ तीर्थ, पृष्ठ 5
30 गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 545
31 संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग-2, अनु. मंगलदेव शास्त्री, पृष्ठ 286-87
32 वही, पृष्ठ 344-45
33 गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृ. 546
34 वही, पृष्ठ 546
35 जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, भाग-1, पृष्ठ 26
36 गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 547
37 वही, पृष्ठ 548-49
38 वही, पृष्ठ 550
39 अनेकांत, वर्ष 17, किरण 2, जून 1964, पृष्ठ 67
40 वही, पृष्ठ 67
41 संस्कृत साहित्य का इतिहास, गैरोला, पृष्ठ 347
42 वीरवाणी, वर्ष 18, अंक 13, अप्रैल 66, पृष्ठ 20
43 गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 550
44 वही, पृष्ठ 550
45 वही, पृष्ठ 550-51

अध्याय - 10

जैनधर्म को मालवा की देन

जैन धर्म को मालवा की देन : किंवदन्तियों एवं परम्पराओं के आधार पर मालवा में जैनधर्म का प्रादुर्भाव महावीरस्वामी के समय से ही माना जाता है। मौर्यकालीन मालवा में जैनधर्म एक विशेष अवस्था में मिलता है। आचार्य भद्रबाहु सर्वव्यापी आचार्य हो गये हैं। उनके अनुयायी के रूप में हम राजा चन्द्रगुप्ति का उल्लेख पाते हैं विद्वानों ने जिसे चन्द्रगुप्त मौर्य माना है। एक और मौर्य सम्राट सम्प्रति का जैनधर्म में वही स्थान है जो बौद्धधर्म में अशोक का था। कहते हैं कि सम्प्रति ने जैनधर्म की उन्नति एवं प्रचार-प्रसार के लिये पर्याप्त प्रयास किये थे। जैसा गार्गीसंहिता के युग-पुराण से प्रकट है, उसने उस प्रचार में बल और हिंसा का भी उपयोग किया जिससे रक्षा ग्रीक राजा देमित्रियस के सामयिक-आक्रमण द्वारा हुई और परिणामतः उसका नाम 'धर्ममीत' पड़ा। आगे आचार्य कालक का भी प्रभाव बढ़ा उन्होंने अपने प्रभाव से शकों को मालवा के शासक गर्दभिल्ल का दर्पचूर्ण करने के लिये आमंत्रित किया गया और उस कार्य में वे सफल भी हुए। आर्यरक्षितसूरि मालवा में ही जन्में, मालवा ही उनकी कर्मभूमि रहा। ये "युग प्रधान आचार्य" हो चुके हैं। इन्होंने आगमों को चार भागों में विभक्त कर महान् कार्य किया। गुप्तकाल में मालवा में प्रथम बार जैनधर्म से सम्बन्धित पुरातात्विक अवशेष तथा अभिलेख मिलते लगते हैं। उसी काल सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं जिन्होंने उच्चकोटि के साहित्य का सृजन किया है। राजपूत काल जैनधर्म की चहुंमुखी उन्नति का युग सिद्ध हुआ। इस युग में जहां अनेक जैनाचार्यों ने साहित्य के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना की। वहीं सम्पूर्ण मालवा में जैन मंदिरों के निर्माण भी हुए ऐसा उल्लेख तथा अवशेष मिलते हैं।

जैनधर्म में भेद उत्पन्न होने के तारतम्य में उज्जैन का भी उल्लेख हुआ है जिससे मालवा को जैन इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मालवा में दिगम्बर भट्टारकों की गादियां भी रही है। उज्जैन की गादी की पट्टावली गुप्तकाल से उपलब्ध होने लगती है जिससे जैनधर्म के पर्याप्त विकसित होने का संकेत

1 देखिये विकास पहला लेख

मिलता है। मालवा में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों का प्राचीन अस्तित्व रहा है किन्तु बाहुल्य दिगम्बर सम्प्रदाय का ही प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त मालवा में जैनधर्म के विभिन्न उपभेदों के अस्तित्व के प्रमाण भी उनके उदय के कुछ ही बाद मिलने लगते हैं। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि मालवा में जैन धर्मावलम्बियों का बाहुल्य प्राचीन काल से ही रहा है।

जैन जातियां लगभग समस्त मालवा में पाई जाती है किन्तु मालवा में ये कहां से किस प्रकार आई इसका कोई व्यवस्थित प्रमाण नहीं मिलता। मालवा में श्रीमाल वंश का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है क्योंकि इसका प्रमाण मिलता है कि इस वंश के लोग मालवा के सुल्तानों के समय उच्च पदों पर आसीन हुए। कुछ और वंशों के प्रभावशाली होने के भी उल्लेख मिलते हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिए जैन कही जाने वाली कला के अनेक अवशेष मालवा में मिलते हैं। स्थापत्य कला के दृष्टिकोण से यद्यपि साहित्यिक उल्लेख के अनुसार तो मंदिर महावीर स्वामी के समय से ही होना चाहिये किन्तु हमें इस काल का कोई अवशेष नहीं मिलता है। न ही कोई अवशेष मौर्यकालीन मिलता है किन्तु ईसा की चौथी शताब्दी से स्थापत्य कला के अवशेष प्राप्त होते हैं जो कला पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। वे अवशेष है उदयगिरि (विदिशा) की गुफाएं। इन्हीं गुफाओं में जैनधर्म से सम्बन्धित अभिलेख भी मिले हैं किन्तु गुप्तकालीन जैनमंदिर की अभी तक मालवा में प्राप्ति नहीं हुई है। विदिशा के पास ही ग्यारसपुर के जैनमंदिर भी उल्लेखनीय है किन्तु जैन मंदिरों की सबसे उल्लेखनीय उपलब्धि ऊन में हुई है। ऊन के जैन मंदिर खजूराहों शैली के हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये पर्याप्त रूप से सुरक्षित भी हैं। इसके अतिरिक्त मालवा में उल्लेखनीय जैनमंदिरों की उपलब्धि हुई है जो स्थापत्य के उत्तम उदाहरण हैं। एक बात और महत्त्व की यह है कि कुछ ऐसे भी उदाहरण है जहां जैनमंदिरों पर अन्य धर्मावलम्बियों ने अपना अधिकार जमा लिया है ऐसे ही कुछ अन्य सम्प्रदाय के मंदिरों पर जैनधर्मावलम्बियों ने भी अधिकर कर उन्हें जैन मंदिर बना लिया है। इस प्रकार एक धर्म का दूसरे धर्म पर अतिक्रमण भी प्रमाणित है।

जैन मूर्तिकला की दृष्टि से भी मालवा धनाढ्य है। चौथी शताब्दी ईस्वी से मालवा में जैन मूर्तियों की उपलब्धि होने लगती है। जैन मूर्तियां कलात्मक तो है ही साथ ही इन मूर्तियों पर जो लेख उत्कीर्ण हैं उनसे विभिन्न प्रकार की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी मिलती है। इन लेखों में तत्कालीन राजा का भी उल्लेख हुआ है। उनके तिथियुक्त होने से ये विवादास्पद भी नहीं है, यद्यपि कई प्रतिमा-

लेख बिना तिथि के भी प्राप्त हुए हैं। जैन मूर्तियां मूर्तिकला की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

जैन चित्रकला में जैनधर्म से सम्बन्धित मान्यताओं का चित्रांकन किया जाता है। साथ ही तीर्थंकरों के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का भी अंकन किया जाता है जिससे हमें बहुमूल्य जानकारी मिल जाती है। इसके अतिरिक्त जैन चित्रकला के उपकरण, उपयोग में आने वाले रंग आदि की तो जानकारी मिलती ही है किन्तु जैन चित्रकला ने कला जगत् को एक नई शैली दी है जिसे विद्वानों ने अपभ्रंश शैली का नाम दिया है। मालवा में जैन चित्रकला के नमूने जैन मंदिरों में तो देखने को मिलते ही हैं किन्तु जैन ग्रन्थों पर भी सुन्दर चित्रांकन देखने को मिलता है। ग्रन्थ के साथ जो चित्रांकन मिलता है वह ग्रन्थ की कथा या विवरण पर आधृत होता है। इस प्रकार का चित्रांकन अपने समय की कलागत विशेषताओं को प्रकट करता है। अस्तु जैनकला जो कि भारतीयकला का ही प्रसार है, महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती है।

मालवा के जैन तीर्थों का अपना इतिहास है। जहां-जहां भी जैनतीर्थ है वहां-वहां जैनधर्मावलम्बियों ने उनके महत्त्व को और भी बढ़ा दिया है। जो जैनतीर्थ प्राचीन है, उनकी प्राचीनता जीर्णोद्धार के परिणामस्वरूप नष्ट हो गई है। अब उनकी प्राचीनता विषयक प्रमाण-पुस्तकों तक ही सीमित रह गये हैं। मालवा में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के तीर्थ मिलते हैं, किन्तु श्वेताम्बर मतावलम्बियों में तीर्थों का बाहुल्य यहां अधिक है यद्यपि अवशेषों की उपलब्धि दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राबल्य को प्रमाणित करती है।

जैनवाङ्मय की दृष्टि से मालवा पर्याप्त महत्त्व रखता है। यह वही स्थान जहां आर्यरक्षितसूरि ने जनसामान्य की सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए आगम साहित्य को चार भागों में विभक्त किया था। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कल्याण मंदिर स्तोत्र के पाठ से तत्कालीन राजा को चमत्कार बताकर अचंभित कर दिया था। जैन विद्वानों ने दर्शन साहित्य, कथा साहित्य, काव्य और महाकाव्य, अलंकार, व्याकरण, ज्योतिष आयुर्वेद आदि विषयों से सम्बन्धित जैनक ग्रन्थों की रचना कर साहित्य को समृद्ध किया।

जैनाचार्यों ने अपने प्रभाव से जैन मंदिरों और भट्टारकों की गादियों वाले स्थानों में शास्त्र भण्डारों की स्थापना करवा कर एक अद्भुत परम्परा को जन्म दिया। यदि किसी को पुस्तकालय का आदि स्वरूप देखना हो तो वह प्राचीनतम जैनशास्त्र भण्डारों का अध्ययन करें। ये प्राचीन शास्त्र भण्डार पुस्तकालय के प्रतीक हैं। साथ ही उनसे यह लाभ हुआ कि एक ही स्थान पर समस्त प्रकार के

ग्रन्थ उपलब्ध हो जाते थे और इस प्रकार साहित्य सुरक्षित भी रहने लगा। इन शास्त्र भण्डारों में न केवल जैनधर्म से सम्बन्धित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं वरन् जैनेतर धर्मों के ग्रन्थ भी इनमें संग्रहित हैं।

जैन साहित्य और शास्त्र भण्डार हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। कारण कि जैन विद्वानों ने जहां संस्कृत भाषा में अपने साहित्य का सृजन किया वहीं सामान्य जनता के निकट की भाषा प्राकृत और अपभ्रंश में भी अनेक ग्रन्थों की रचना की। अपभ्रंश से हिन्दी के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अपभ्रंश तथा प्रारम्भिक हिन्दी में जैन विद्वानों की अनेक रचनाएं मिलती हैं जो हिन्दी भाषा के विकास तथा इतिहास के अध्ययन के लिये उपयोगी हैं।

जैनाचार्य कभी एक स्थान पर नहीं रहते। वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करते रहते हैं। यही परम्परा प्राचीनकाल में भी थी। यह भी देखने में आया कि यदि एक आचार्य ने राजस्थान में जन्म लिया तो उनकी कर्त्तव्य भूमि गुजरात या मालवा रही और यदि मालवा में जन्म लिया तो कर्मभूमि राजस्थान या अन्य प्रदेश रही। इन जैनाचार्यों ने यद्यपि सभी क्षेत्रों में पर्याप्त रूप से कार्य किया किन्तु भारतीय प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर इन्होंने स्वयं के विषय में कहीं कुछ भी नहीं लिखा जिससे उनके सम्बन्ध में निश्चित जानकारी का भाव है। फिर भी उपलब्ध प्रमाणों से आचार्यों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के अध्ययन से विदित होता है कि मालवा में अनेक आचार्य युग-प्रधान थे। कुछ आचार्य ज्योतिष के विद्वान थे कुछ उच्चकोटि के दर्शनिक, तत्त्ववेत्ता, नैयायिक और कुछ महाकवि की श्रेणी के थे, कुछ साहित्य के मर्मज्ञ पंडित थे।

परिशिष्ट 'अ'

संदर्भ-ग्रंथ सूची

क्रं.	पुस्तक का नाम	सम्पादक या लेखक का नाम	प्रकाशक का नाम व तिथि
		आगमिक एवं दार्शनिक ग्रन्थ	
1.	तत्त्वार्थ वार्तिक	महेन्द्रकुमार जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी 1953
2.	देवसेनकृत दर्शनसार	पं.नाथूराम प्रेमी	बम्बई, सं.1974
3.	सर्वार्थसिद्धि	फूलचंद्र सिद्धांतशास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1955
		प्रशस्ति ग्रन्थ	
1.	जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, भाग-1	जुगलकिशोर मुख्तार	दिल्ली, 1954
2.	जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह	जिनविजय	सिंघी जैन सीरीज, 18, अहमदाबाद, 1943
3.	प्रशस्ति संग्रह	पं.भुजबली शास्त्री	आरा, 1999
4.	श्री प्रशस्ति संग्रह भाग 1-2	अमृतलाल मगनलाल शाह	जैन विद्या शाला, दोशी वाड़ानी पोल, अहमदाबाद, 1993
		जैन साहित्य एवं ऐतिहासिक ग्रंथ	
1.	अग्रवाल जाति का प्रामाणिक इतिहास	गुलाबचंद एरन	हिन्दी साहित्य सदन, सनावद, 1938
2.	आवश्यक भाष्यवृत्ति	--	बम्बई, 1916, 1928
3.	उत्तरपुराण	--	--
4.	ओसवाल जाति का इतिहास	सुखसम्पतराय भंडारी व अन्य	ओसवाल हिस्ट्री पब्लिशिंग हाउस, भानपुरा, 1934
5.	जगत प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्री मांडवगढ़ तीर्थ	नंदलाल लोढ़ा	श्री जैन श्वेताम्बर संघ की पेढ़ी, पीपली बाजार, इंदौर, 1960
6.	जैन तीर्थ सर्वसंग्रह भाग-2	--	अहमदाबाद, 1953

7.	जैन परम्परा नो इतिहास	मुनि दर्शनविजय व अन्य	मंत्री भीखाभाई भूधरभाई शाह, बम्बई 1952
8.	जैन साहित्य और इतिहास	पं.नाथूराम प्रेमी	बम्बई, 1942
9.	जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास	मो.द.देसाई	श्री जैन श्वेताम्बर कॉन्फ्रेंस ऑफिस, बम्बई, 1933
10.	जैन सम्प्रदाय शिक्षा	श्रीपालचंद्र यति	1910
11.	जैन जाति महोदय, प्रथम खण्ड	मुनि ज्ञानसुंदर	फलौदी, सं.1983
12.	तपागच्छ पट्टावली प्रथम भाग	उपाध्याय धर्मसागर व अन्य	श्री विजयनीति सूरीश्वरजी जैन लायब्रेरी, अहमदाबाद, 1940
13.	तपगच्छ श्रमण वंशवृक्ष	जयंतीलाल छोटालाल शाह	झवेरी वाड़सातभाई की हवेली, अहमदाबाद, द्वितीय संस्करण
14.	त्रिषष्टि श्लाका पुरुष चरित पर्व 10, सर्ग 2	सं.जानसन	बड़ौदा, 1931
15.	पट्टावली पराग संग्रह	कल्याणविजय गणि	श्री जालौर, 1966
16.	पट्टावली समुच्चय	--	श्री चरित्र स्मारक ग्रंथमाला वीरमगाम, 1933
17.	पोरवाल वड़िको ने इतिहास	सी.एम.दलाल	बम्बई, 1922
18.	पोरवाड़ महाजनों का इतिहास	ठा.लक्ष्मणसिंह चौधरी	देवास, 1930
19.	भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान	डॉ.हीरालाल जैन	म.प्र.शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, 1962
20.	भारत के प्राचीन जैन तीर्थ	डॉ.जगदीशचंद्र जैन	बनारस, 1952
21.	भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास	ज्ञानसुंदन	फलौदी, 1943
22.	भट्टारक सम्प्रदाय	डॉ.विद्याधर जोहारपुरकर	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शौलापुर, 1958

23.	मक्सी पार्श्वनाथ तीर्थ का संक्षिप्त इतिहास	खुशीलाल देवचंद तलेरा	मक्सी, सं.2011
24.	महाजनवंश मुक्तावली	रामलाल	बम्बई, 1910
25.	मालवा प्रांतीय दिगम्बर जैन संग्रहालय, उज्जैन परिचय पुस्तिका	वि.श्री.वाकणकर	उज्जैन, 1972
26.	विधि कौमुदी	--	--
27.	स्थानकवासी जैनधर्म की सत्यता	तखतमल कटारिया	सैलाना, 1944

धार्मिक, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक ग्रंथ

1.	अथर्ववेद	सातवलेकर	पारडी, 1960
2.	उज्जयिनी दर्शन	पं.सूर्यनारायण व्यास व अन्य	संचालक, सूचना प्रकाशन, म.प्र., 1957
3.	ऋग्वेद	सातवलेकर	आंध, 1940
4.	खण्डहरों का वैभव	मुनि क्रांतिसागर	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1956
5.	गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास	डॉ.भगवतशरण उपाध्याय	हिन्दी समिति सूचना विभाग उत्तरप्रदेश, 1969
6.	गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग-2	वासुदेव उपाध्याय	इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1952
7.	गौपथ ब्राह्मण	जीवानंद विद्यासागर भट्टाचार्य	कलकत्ता, 1891
8.	दशपुर जनपद संस्कृति	मांगीलाल मेहता व अन्य	मंदसौर, 1962
9.	भारतीय चित्रकला	वास्पति गैरोला	मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, 1963
10.	भारतीय इतिहास : एक दृष्टि	डॉ.ज्योतिप्रसाद जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1961
11.	भारतीय वास्तुशास्त्र प्रतिमा विज्ञान	द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल	लखनऊ, 1956

12.	मालविका (मालवा : एक सर्वेक्षण)	वि.श्री.वाकणकर व अन्य	सिद्धार्थ साहित्य सदन, उज्जैन, 1972
13.	मेघदूत (कालिदास ग्रंथावली)	सीताराम चतुर्वेदी	भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, सं.2019
14.	मौर्य साम्राज्य का इतिहास	सत्यकेतु विद्यालंकार	इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1985
15.	मृच्छकटिकम	रामानुज ओझा व अन्य	चौखम्बा संस्कृति सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1962
16.	राजस्थान का इतिहास	अनु.बलदेवप्रसाद मिश्र	बम्बई, 1925
17.	श्रीमद् भगवत गीता	--	गीता प्रेस, गोरखपुर, 2025
18.	संस्कृत साहित्य का इतिहास	वाचस्पति गेरौला	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1960
19.	संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग-2	अनु.मंगलदेव शास्त्री	-------"------
20.	संस्कृति केन्द्र उज्जयिनी	ब्रजकिशोर चतुर्वेदी	इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1955

सामान्य ग्रन्थ

1.	गुरु गोपालदस वरैया स्मृति ग्रंथ	पं.कैलाशचंद्र शास्त्री	अ.भा.दिगम्बर जैन विद्वत परिषद्, वर्णी भवन, सागर 1967
2.	मुनि हजारीमल स्मृति ग्रंथ	--	मुनि हजारीमल स्मृति ग्रंथ प्रकाशन समिति, ब्यावर
3.	विक्रम स्मृति ग्रंथ	डॉ.रमाशंकर त्रिपाठी व अन्य	सिंधिया ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट, उज्जैन, सं.2001
4.	श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ	अगरचंद नाहटा व अन्य	सौधर्म वृहत्तपागच्छी जैन श्वेताम्बर संघ, आहोर, 1957
5.	स्व.बाबू श्री बहादुर-सिंहजी सिंघी स्मृति ग्रंथ	जिनविजय मुनि	भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1945

Jain Canonical Works

1.	Kalpasutra Eng. Trans.	H.J.Sodhi	S.B.E.45, Oxford, 1895

Jain Literacy & Historical Works

1.	Dasa Srimali Jain Baniya of Kathiawar	C.M.Dosid	Bombay, 1933
2.	History of Jain Monachism	Dr. S.B.Deo	Deccan College, Pune, 1956
3.	Jain sources of the history of Ancient India	Dr. Jyotiprasad Jain	Munshiram Manohar lal, Delhi-6
4.	Jainism in Rajas-than, Ist Edition	Dr. K.C.Jain	Jain Sanskrit Samrakshak Sangh. Sholapur
5.	Jain Community A Social Survey	Dr. V.A.Sangvey	Popular Book Depot, Bombay-7, 1959
6.	Sraman Bhagvan Mahavir	Muni Ratnaprabh Vijay	Ahmedabad] 1947
7.	The Heart of Jainism	Mrs. Stevenson	Oxford, 1915

Books on Inseriptiôn

1.	Epigraphia Indica	Vol. XX	
2.	Select Inscription Vol. I	D.C. Sircar	1942

Books on Literary & Modern History

1.	Asok	V.A. Smith	Oxford
2.	Age of Imperial Unity, Vol. II	Dr. R.C.Majumdar & Others	Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1951
3.	Classical Age	Dr. R.C.Majumdar & Others	--- " ----, 1954
4.	Cultural Heritage of Madhya Bharat	Dr. D.R.Patil	Deptt. of Archaeology M.B.Gwalior, 1952
5.	History of the Sanskrit Literature	A.B.Keith	Oxford, 1928
6.	Malwa in Transition	Dr. Raghuvirsingh	D.B.Taraporewala & sons, Bombay, 1936

7. Medieval Malwa — Upendranath Day — Munshiram Manoharlal, Delhi, 1965
8. Tribes & castes of North-Westerh Provinces & Oudh — G.Crooke — Calcutta, 1896

Book on Arts & Archaeology

1. Bibiliography of Madhya Bharat Part-I Archaeology — Dr. H.V.Trivedi — Dept. of Archaeology Madhya Bharat, 1953
2. History of Indian & Easterh Architecture — J.Ferguson — London, Johan Murray 1899
3. Jain Miniature paintings from Western India — Dr. Motichand — Sarabhai Manilal Nawab, Ahmedabad, 1949

General Books

1. Bombay Gazetteer Vol.IV, Part-I — Distt. Ahmedabad
2. Encyclopaedia of Religion & Ethics Vol.I — J.Hastings — New York, 1925
3. Imperial Gazetteer of India — Oxford 1908
4. Indore State Gazetteer

Journals

1. Indian Antiquary
2. Jain Antiquary - Arrah
3. Journal of Oriental Institute, M.S.University of Baroda
4. Progress Report of Archaeological Survey of India, W.C.1919
5. Report of Archaeological Survey of Inda, Vol. II

पत्रि-पत्रिकाएँ

1. अनेकांत, दिल्ली
2. कल्याण, तीर्थांक, गोरखपुर
3. जयाजी प्रताप, ग्वालियर
4. जैन भारती, कलकत्ता
5. जैनसिद्धांत भास्कर, आरा
6. मध्यभारत संदेश, ग्वालियर
7. विक्रम, उज्जैन
8. विक्रम कीर्ति मंदिर स्मारिका, उज्जैन
9. विद्यावाणी स्मारिका, उज्जैन
10. वीरवाणी, जयपुर
11. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली

डॉ .तेजसिंह गौड़ द्वारा लिखित पुस्तकें

1. प्राचीन एवं मध्यकालीन मालवा में जैनधर्म : एक अध्ययन
2. जैनधर्म का संक्षिप्त इतिहास, भाग-1
3. जीवन और सृजन
(आचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेनसूरिजी म. का व्यक्तित्व एवं कृतित्व)
4. प्रवर्त्तक श्री रमेश मुनि : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
5. आचार्य श्रीमद्विजय विद्याचंद्रसूरि : संक्षिप्त जीवन परिचय
6. साधना और सर्जना
(ज्योतिष सम्राट मुनिराजश्री ऋषभचंद्रविजयजी म. का जीवन परिचय)
7. मिश्री की मिठास
(युवाचार्यश्री मिश्रीमलजी म. 'मधुकर' का काव्यमय जीवन परिचय)
8. कस्तूरी की महक
(मालवरत्न उपाध्यायश्री कस्तूरचंदजी म. का संक्षिप्त जीवन परिचय
9. जैन ज्योतिष साहित्य की परम्परा
10. जैन आयुर्वेद साहित्य की परम्परा
11. श्री हासामपुरा जैन तीर्थ का इतिहास
12. पूणवान (मालवी उपन्यास)
13. वखत वखत की वात (मालवी उपन्यास)

नोट- बीस से अधिक अभिनंदन/स्मृति ग्रंथों आदि का सम्पादन